

THE FREE INDOLOGICAL COLLECTION

WWW.SANSKRITDOCUMENTS.ORG/TFIC

FAIR USE DECLARATION

This book is sourced from another online repository and provided to you at this site under the TFIC collection. It is provided under commonly held Fair Use guidelines for individual educational or research use. We believe that the book is in the public domain and public dissemination was the intent of the original repository. We applaud and support their work wholeheartedly and only provide this version of this book at this site to make it available to even more readers. We believe that cataloging plays a big part in finding valuable books and try to facilitate that, through our TFIC group efforts. In some cases, the original sources are no longer online or are very hard to access, or marked up in or provided in Indian languages, rather than the more widely used English language. TFIC tries to address these needs too. Our intent is to aid all these repositories and digitization projects and is in no way to undercut them. For more information about our mission and our fair use guidelines, please visit our website.

Note that we provide this book and others because, to the best of our knowledge, they are in the public domain, in our jurisdiction. However, before downloading and using it, you must verify that it is legal for you, in your jurisdiction, to access and use this copy of the book. Please do not download this book in error. We may not be held responsible for any copyright or other legal violations. Placing this notice in the front of every book, serves to both alert you, and to relieve us of any responsibility.


If you are the intellectual property owner of this or any other book in our collection, please email us, if you have any objections to how we present or provide this book here, or to our providing this book at all. We shall work with you immediately.

-The TFIC Team.

श्रमण भगवान महावीर की पच्चीस सौ वीं निर्वाण-तिथि समारोह के उपलक्ष में

भगवान महावीर के हजार उपदेश

संपादक
गणेश, मुनि शास्त्री


प्रकाशक
अमर-जैन साहित्य-संस्थान
उदयपुर [राजस्थान]

अमर जैन साहित्य संस्थान का १४ वाँ रत्न

पुस्तक भगवान् महावीर के हजार उपदेश



सम्पादक गणेश मुनि शास्त्री, साहित्यरत्न



संयोजक जिनेन्द्र मुनि शास्त्री, काव्यतीर्थ



प्रेरक : प्रवीण मुनि



विषय . जैनागम की १००१ सूक्तियाँ



प्रकाशक राजेन्द्रकुमार महेता
मंत्री . अमर जैन साहित्य संस्थान
कोरपोल, बड़ा बाजार, उदयपुर (राज०)



प्रथम प्रकाशन जुलाई १९७३, आषाढीपूर्णिमा वि० सं० २०३०



मूल्य नौ रुपये मात्र



मुद्रण व्यवस्था : सजय साहित्य संगम, आगरा



मुद्रक राष्ट्रीय आर्ट प्रिंटर्स,
मोतीलाल नेहरू रोड, आगरा-३

जिनके सत्साहित्य के पठन से
चिन्तन-मनन तथा लेखन-प्रेरणा का प्रकाश मिलता रहा है,
उन्हीं साहित्यवारिधि, महामनीषि—
परम श्रद्धेय राष्ट्र सत उपाध्याय श्री अमरमुनि जी म. सा के
कर कमलो मे
अपार श्रद्धा के साथ.... !

—गणेश मुनि

प्रस्तुत पुस्तक में सहयोग दाता

शा० थावरचन्द्र कन्हैयालाल ठाकरगोता
गुरलीवाले, वसई जिला थाणा (महाराष्ट्र)

प्रस्तावना

सुभाषित एव नीतिवचनो के महान् सर्जक श्री भर्तृहरि ने कहा है—

केयूरा न विभूषयन्ति पुरुषं हारा न चन्द्रोज्ज्वला
न स्नान न विलेपन न कुसुमं नालकृता भूषणं ,
वाण्येका समलकरोति पुरुषं या सस्कृता धार्यते
क्षीयन्ते खलु भूषणानि सतत वाग्भूषणं भूषणम् ।”

मनुष्य को न कपूर, न चन्द्रहार, न स्नान, न विलेपन, न पुष्प और न सुन्दर केशविन्यास ही विभूषित कर पाता है, अपितु एकमात्र सस्कृत-वाणी ही उसके मनुष्यत्व को अलंकृत करती है। और सब अलंकार क्षीण एव प्रमाहीन हो जाते हैं, किन्तु वाणी का अलंकार कभी भी क्षीण एव निष्प्रभ नहीं होता, वस्तुतः वाणी का भूषण ही भूषण है, अलंकार है।

भर्तृहरि का यह कथन सत्य की तुला पर शतप्रतिशत सही उतरता है। एक भी सदुक्ति, एक भी सुवचन जीवन को इतना महिमामय बना देती है कि मानव इतिहास के पृष्ठो पर अजर अमर हो जाता है। महान् आत्माओं के, सन्त पुरुषों के हृदय के अन्तरतम से निकला हुआ एक भी सुभाषित वचन, सघन अन्धकार से आन्ध्र मानव-हृदय में वह आलोक भर देता है कि जीवन की धारा ही बदल जाती है। पापी से पापी, दुराचारी से दुराचारी व्यक्ति भी सहसा जो महर्षि के पद पर पहुँच पाया है, उसकी पृष्ठभूमि में सद्गुरु का वह ऐसा कोई ज्योतिर्मय वचन ही रहा है, जिसने उनके जीवन की काया पलट कर दी। महर्षि वाल्मीकि के जीवन को ऐसे ही किसी वचन ने प्रबुद्ध कर दिया था कि डाकू रत्नाकर में से महर्षि की आत्मा जाग उठी। दस्युराज अगुलिमाल को तथागत बुद्ध की सुभाषित वाणी ने ही क्या से क्या बना दिया था। मगध का कुख्यात तस्करराज रोहिण्य तीर्थङ्कर महावीर के एक वचन श्रवण मात्र से ही जीवन की अमीष्ट सिद्धि को प्राप्त कर सका था, जिसका यह परिणाम आया कि उसके प्राणों के ग्राहक बने श्रेणिक जैसे सम्राटों के रत्नमुकुट उस महर्षि के चरणों में झुक गये। उत्तर कालीन सन्त साहित्य में तो इस प्रकार के अगणित उल्लेख दृग्गोचर होते ही हैं।

मानव ऐश्वर्य की खोज भौतिक सम्पत्ति में करता है, वह रत्न-मणि-माणिक्य की तलाश में अपने जीवन के मूल्यवान् वर्षों को गला देता है, किन्तु

उसे यह पता नहीं कि उक्त जड रत्नों का क्या मूल्य है ? उनका क्या ऐश्वर्य है ? जीवन की क्षणिक आवश्यकताओं की पूर्ति के अतिरिक्त उनसे क्या होना जाना है ? वस्तुतः यदि गहराई से देखा जाय तो इस पृथ्वी पर एक लोक चित्तक की भाषा में तीन ही रत्न हैं—जल, अन्न और सुमापित वाणी ।

पृथिव्या त्रीणि रत्नानि जलमन्न सुमापितम् ।

मूढे पाषाणखण्डेषु रत्न सज्ञा विधीयते ।

महाकवि के शब्दों में और जरा गहरा उतरें तो जल और अन्न केवल भौतिक तृप्ति के लिए, और वह भी क्षणिक तृप्ति के लिए ही है, किन्तु जीवन की सही समस्याओं का समाधान तो एकमात्र सुमापित में ही मिलता है । एक जन्म ही नहीं, किन्तु जन्म-जन्मान्तरो तक की समस्या का समाधान सुमापित वाणी में ही मिल पाता है ।

जैन आगम साहित्य एक विशाल ज्ञान सागर हैं, सुवचनों का एक अक्षय कोष है । आगमों में अनेक प्रकार की सैद्धान्तिक चर्चाएँ उपलब्ध होती हैं, विद्वान् मनीषी उन पर काफी लम्बी-चौड़ी चर्चा-विर्चाएँ भी करते हैं, किन्तु कभी-कभी यह चर्चाएँ इतनी नीरस हो जाती हैं कि भावुक श्रोता का अन्तर-मानस ऊबने लग जाता है, किन्तु उन नीरस सैद्धान्तिक चर्चाओं के बीच आगम साहित्य में हजारों हजार सुमापित रत्न कणिकाएँ भी बिखरी हुई उपलब्ध होती हैं । एक-एक वचन इतना सुन्दर एवं गम्भीर होता है, इतना प्रेरणाप्रद एवं प्रकाशमय होता है कि साधक के सम्पूर्ण जीवन का वह संवल बन जाता है । साधक के दुःख में, सुख में, यश में, अपयश में, हानि में, लाभ में, जीवन में और मरण में अर्थात् जीवन के विभिन्न द्वन्द्वों में यदि कोई सहारा उसे मिल सकता है, और जीवन पथ का सही रूप परिलक्षित हो सकता है तो इन्हीं सुमापित वचनों में । देखिए एक-एक वचन में कितना गहरा संकेत छिपा है—

कामे कमाहि कमियं खु दुखं ।

कामनाओं को दूर करो, दुःख दूर हो जायेंगे ।

एगे चरेज्ज घम्मं ।

मले ही कोई साथ चले या नहीं, धर्म पथ पर अकेले ही चलते रहो ।

छंदं निरोहेण उवेइ मोक्खं ।

इच्छा को निरोध करना ही वास्तव में मोक्ष है ।

तुम मेव तुम मित्त !

आत्मन् ! तू ही मेरा मित्र है,

कहना नहीं होगा, हजारों वर्ष की यात्रा करने पर भी ये वचन आज भी इतने ही ज्योतिर्मय हैं, जितने कि अतीत में थे । और यह उनकी ज्योति हजारों वर्ष तक जीवन को इसी प्रकार ज्योतित करती रहेगी । यह आभा कभी धुंधली होने वाली नहीं है ।

भगवान् महावीर का पच्चीस सौवाँ निर्वाण महोत्सव सन्निकट आ रहा है । इस पुण्यस्मृति में अनेक ग्रन्थ, ग्रन्थ ही क्या ग्रन्थराज लिखे जा रहे हैं और प्रकाशन की प्रतीक्षा में हैं । इसी शृङ्खला में श्री गणेश मुनिजी शास्त्री ने भी एक श्रद्धापुष्प समर्पित किया है, उस महामहिम परमपिता के श्री चरणों में । आगम साहित्य में विकीर्ण भगवान् महावीर के सुभाषित वचनों का यह सुन्दर सकलन उपस्थित किया है उन्होंने । मैं कह सकता हूँ कि मुनिजी का यह सग्रह सुन्दर एवं जीवनोपयोगी है । महावीर की दिव्य वाणी के दर्शन आज भी हमें इन सुभाषित वचनों में हो जाते हैं ।

वर्तमान जन-जीवन में जो कुटाए हैं, द्वन्द्वात्मक स्थितियाँ हैं, नीति-अनीति के संघर्ष हैं, उनमें यह सुभाषित सग्रह आज भी एक प्रेरणा व ज्योति प्रदान करेगा । जन-जीवन के निर्माण में मानसिक शान्ति एवं समता की उपलब्धि में यह सग्रह काफी सहायक सिद्ध हो सकता है ।

श्री गणेश मुनि जी एक सरल, शान्त, भावनाशील एवं युवकोचित उत्साह से युक्त श्रमण हैं । कविता, लेखन एवं प्रवचन तीनों ही धाराओं में उनकी अच्छी गति है । उन्होंने पहले भी कुछ अच्छी रचनाएँ जनसाहित्य के रूप में प्रस्तुत की हैं, जिनका यत्र-तत्र-सर्वत्र आदर हुआ है । प्रस्तुत सग्रह कृति के साथ उन्होंने इस दिशा में एक और भव्य चरण आगे बढ़ाया है । मैं मुनिश्री के मंगलमय भविष्य की कामना करता हूँ कि वे इस प्रकार की साहित्य-साधना के क्षेत्र में अधिकाधिक यशस्वी होंगे एवं प्रभु महावीर के शासन की गरिमा को अधिकाधिक दीप्तिमान करेंगे ।

जैन भवन,

आगरा

—उपाध्याय अमर मुनि

अपनी बात

भगवान महावीर ने कहा है—

“उद्देसो पासगस्स नत्थि”

जो स्वयं द्रष्टा है, उसके लिए उपदेश की आवश्यकता नहीं होती। प्रश्न हो सकता है फिर ये बड़े-बड़े शास्त्र, हजारों ग्रन्थ और लाखों पेजों में भरी शिक्षाएँ किसलिए? क्यों? और फिर नये-नये शिक्षा ग्रन्थ तैयार क्यों हो रहे हैं?

स्पष्ट है कि विवेकी को, द्रष्टा को, ज्ञानी को उपदेश की जरूरत नहीं, किन्तु आज मनुष्य का विवेक जागृत कहाँ है? उसकी आँखें कहाँ खुली हैं? उसका ज्ञान कहाँ उजागर है? आँखें होते हुए भी वह अधो की तरह आचरण कर रहा है? उसका विवेक एवं ज्ञान सुप्त है, मोह के सघन आवरणों में दबा हुआ है जैसे घने बादलों के पीछे सूर्य का प्रकाश। उस सुप्त विवेक को जगाने के लिए, मोह आवरण को हटाने के लिए और आँखें मूँदकर बैठे मनुष्य की दृष्टि उघाड़ने तथा उसके द्रष्टा रूप को प्रकट करने के लिए ही महापुरुषों के उपदेश, शिक्षा एवं सुवचनों की आवश्यकता है।

आचार्य शुभचन्द्र ने कहा है—

प्रबोधाय, विवेकाय, हिताय प्रशमाय च ।

सम्यक् तत्त्वोपदेशाय सतां सूक्तिः प्रवर्तते ।

मनुष्य के अन्तर हृदय को जगाने के लिए, सत्य-असत्य का विवेक व्यक्त करने के लिए, लोक-कल्याण के लिए, विकारों एवं मोह को दूर करने के लिए तथा सम्यक् तत्त्व की जानकारी के लिए सत्पुरुषों की सूक्ति एवं उपदेश का प्रवर्तन होता है। यही बात शब्दान्तर से महर्षिवशिष्ट ने स्वीकार की है—

अतिमोहापहारिण्य सूक्तयो हि महीयसाम् ।

महापुरुषों के वचन मोह को दूर करने वाले होते हैं।

भगवान महावीर के उपदेश, वीतराग के उपदेश हैं, सत्य द्रष्टा की वाणी

है, उनमें वह अमोघ शक्ति है, प्रभावशीलता है कि जो उनका श्रवण करे मनन-चिंतन करें उन पर विश्वासपूर्वक आचरण करे उसकी सुप्त चेतना प्रबुद्ध हो सकती है, उसके अन्तरंग पटल पर छाये मोह-आवरण हट सकते हैं, और विवेक का दिव्य प्रकाश जगमगा सकता है। उनके उपदेश की वह पवित्र मदाकिनी जिघर से भी वह जाती है, उधर ही भव-भव का ताप-सताप विलय होकर शीतलता छा जाती है। मानव अपने देवत्व को प्राप्त कर सकता है महावीर के उपदेशों का अनुसरण कर। महावीर के उपदेश एक पारस है, जिनका स्पर्श पाकर मानव मन धर्म की मज्जुल स्वर्णामा से युक्त हो सकता है।

भगवान महावीर को आज ढाई हजार वर्ष बीत चुके हैं, जिस युग में, जिन परिस्थितियों में उनका अवतरण हुआ था वे आज से बहुत भिन्न रही होगी, इसलिए सम्भव है उनके उपदेशों में सामयिक समस्याओं का समाधान भी रहे पर उस ढाई हजार वर्ष पुरानी वाणी को हम पुरानी कहे तो उपयुक्त नहीं होगा। पुरानी होकर भी उसमें पुरानापन नहीं है, वासीपन नहीं है। यह अमर सत्य है कि महापुरुषों की वाणी में जीवन का शाश्वत स्वर गूँजता रहता है। देशकाल की परिधि से मुक्त, वह चिरतन सत्य की दिव्यता से युक्त होती है। तीर्थंकर त्रिकाल-सत्य के द्रष्टा होते हैं अतः उनका उपदेश कालातीत, शाश्वत माधुर्य और चिरतन ताजगी-स्फूर्ति लिए होता है। उनके उपदेशों में जो स्फूर्ति, प्रेरणा और जीवन-स्पर्शिता ढाई हजार वर्ष पूर्व थी वह आज भी है। यह प्रत्यक्ष अनुभव का विषय है। नहि कस्तूरिकागंधः शपथेनानुभाव्यते—कस्तूरी की सुगन्ध बताने के लिए सौगन्ध खाने की क्या जरूरत? भगवान महावीर के उपदेशों की उपयोगिता और महत्ता बताने के लिए शब्द विस्तार की क्या अपेक्षा है? वे स्वयं ही अपनी उपयोगिता के जीवत प्रमाण हैं। उनका एक वचन भी जीवन को उच्चता एवं श्रेष्ठता के शिखर पर पहुँचा सकता है।

प्रस्तुत “भगवान महावीर के हजार उपदेश” में प्रभु की वाणीरूप क्षीर समुद्र में से एक हजार वचन उर्मियाँ सकलित की गई हैं। मेरा विचार तो था—पच्चीस वीं निर्वाण शताब्दी के उपलक्ष्य में भगवान महावीर के पच्चीस

सौ उपदेश वचनों का एक सकलन तैयार किया जाय, इस दिशा में चिन्तन भी किया, किन्तु लगा २५०० उपदेशों का संग्रह विशालकाय ग्रन्थ का रूप ले लेगा जो जन साधारण के लिए कम उपयोगी रहेगा, दूसरी बात उपदेश वचनों को तोड़-तोड़ कर छोटा करना होगा अथवा कुछ गम्भीर व जटिल विषयों को भी साथ में समाविष्ट करना होगा जिससे ग्रन्थ की गुरुता, गरिष्ठता बढ़ जायेगी और जनोपयोगिता कुछ कम हो जायगी। इस विचार से पच्चीससौ उपदेशों के स्थान पर एक हजार उपदेशों का सकलन प्रस्तुत करने का विचार स्थिर किया, यदि समय व साधनों की सुविधा रही तो इस चरण को और भी आगे बढ़ाने का प्रयत्न किया जायेगा।

इन उपदेश वचनों को तीन खण्डों में विभक्त किया है। प्रथम खण्ड में धर्म और दर्शन से सम्बन्धित १८ विषय हैं, जिनमें ३८२ सूक्तियाँ हैं। दूसरे खण्ड में जीवन और कला शीर्षक से २३ विषय लिये गये हैं जिनमें ३५३ उपदेश वचन संग्रहीत किये हैं। तृतीय खण्ड में शिक्षा और व्यवहार शीर्षक के अन्तर्गत १५ विषय हैं जिनमें २६६ उपदेश सूक्त हैं। यों कुल ५६ विषयों में एक हजार एक उपदेश वचनों का सकलन किया गया है। इस सकलन में मूल आगमों को ही मुख्य आधार माना गया है, चूँकि वर्तमान मान्यता के अनुसार मूल आगमों में महावीर की वाणी आज भी सुरक्षित है।

सूक्तियों का चयन करते समय प्रायः मूल आगम देखे हैं और अनुवाद करते समय पूर्वापर भावों का सम्बन्ध भी ध्यान में रखा गया है। आशा है पाठकों को इस सकलन में प्रामाणिक रूप से भगवान् महावीर के उपदेशों से साक्षात्कार करने का अवसर मिलेगा।

मेरे आध्यात्मिक एवं साहित्यिक जीवन के प्रेरणा-स्नग्ध राजस्थानकेसरी गुरुदेव श्री पुष्कर मुनिजी म० सा० का पुनीत स्मरण इस प्रसंग पर स्वयं हो आता है। मेरा जो कुछ कृतित्व है वह उन्हीं के आशीर्वाद का फल है। गुरु भ्राता आदरणीय श्री हीरामुनि जी 'हिमकर' एवं ममर्थ साहित्यकार श्री देवेन्द्र मुनि जी का स्नेह, प्रेरणा एवं मार्गदर्शन मुझे निरन्तर आगे बढ़ाते रहे हैं।

मेरे निःशुद्धतम सहयोगी श्री जिनेंद्र मुनि शास्त्री, काव्यतीर्थ का जो

हार्दिक सहकार और सप्रेरणा प्राप्त होती रही है, उसे वाणी का विषय बनाकर औपचारिकता दिखाना ठीक नहीं होगा। वे मेरी प्रत्येक साहित्यिक-सर्जना के सहयोगी रहते हैं और इस भगीरथ कार्य में भी अपनी योग्य भूमिका इन्होंने निवाही है। मेरे आत्मीय श्री प्रवीण मुनिजी की प्रेरणा इस सकलन के लिए सतत मुझे प्रेरित करती रही है, अतः उनका स्मरण स्वतः ही हो जाता है।

इस सकलन की मूल प्रेरणा स्नेही श्री श्रीचन्द्रजी सुराना 'सरस' से प्राप्त हुई। अतः इस ग्रन्थ की पूर्ति में उनका स्नेह सहकार बराबर याद करता रहा हूँ।

श्रद्धेय उपाध्याय श्री अमर चन्द्रजी म० ने मेरी प्रार्थना को स्वीकार कर ग्रन्थ पर प्रस्तावना के रूप में दो शब्द लिखने की जो स्नेह पूर्ण उदारता दिखाई है, उसके लिए मैं बहुत कृतज्ञ हूँ।

आशा करता हूँ यह महत्वपूर्ण सकलन पाठकों के लिए उपयोगी होगा एवं भगवान् महावीर की २५ वीं निर्वाण शताब्दी के उपलक्ष्य में प्रभु महावीर के प्रति मेरा एक श्रद्धा सुमन।

जैनधर्म स्थानक

वागपुरा (राजस्थान)

१-६-७३

—गणेश मुनि शास्त्री

प्रकाशकीय

भगवान महावीर की २५ वीं निर्वाण शताब्दी का प्रसंग जैन समाज के लिए एक ऐतिहासिक प्रसंग है। इस प्रसंग पर भगवान महावीर एवं जैन धर्म से सम्बन्धित अनेक महत्वपूर्ण समारोह, कार्यक्रम एवं साहित्य-प्रकाशन की योजनाएँ मूर्त रूप ले रही हैं, यदि सम्पूर्ण जैन समाज तन-मन-धन से एकजुट होकर इस कार्य को आगे बढ़ाये तो सचमुच ही विश्व का वातावरण बदल सकता है और अनेक महत्वपूर्ण उपलब्धियों से गौरव में अभिवृद्धि हो सकती है।

भगवान महावीर निर्वाण शताब्दी समारोह मनाने के लिए प्रान्तीय एवं अखिलराष्ट्रीय स्तर पर अनेक समितियाँ कार्य कर रही हैं। दिल्ली की अखिल भारतीय समिति ने पिछले दिनों एक कार्यक्रम प्रसारित किया था जिसमें आयोजन से सम्बन्धित अनेक योजनाएँ भी थीं उनमें एक महत्वपूर्ण योजना थी भगवान महावीर व जैन आगमों की सूक्तियों का सकलन-प्रकाशन।

भगवान महावीर की सूक्तियों से सम्बन्धित गत कुछ वर्षों में अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। जब से सूक्तियों का प्रचार लोकप्रिय हुआ है, इस दिशा में अनेक विद्वान मनीषियों ने कार्य किया है। महावीर-वाणी, महावीर वचनामृत, आर्हत प्रवचन के अतिरिक्त एक अत्यन्त महत्वपूर्ण व मौलिक-सकलन राष्ट्रसत्त उपाध्याय श्री अमर मुनि जी ने प्रस्तुत किया है—सूक्ति त्रिवेणी। यह सकलन अपने स्तर का एक विशिष्ट व वेजोड सकलन कहा जा सकता है।

सूक्ति साहित्य की इसी सुमन-माला में प्रस्तुत पुस्तक—‘भगवान महावीर के हजार उपदेश’ एक नवीनतम सुरभिit सुमन गिना जा सकता है। कई दृष्टियों से इस सकलन की अपनी मौलिकता भी है। आगमों के अब तक अप्रयुक्त ऐसे अनेक महत्वपूर्ण सन्दर्भ व गाथाएँ इस संग्रह में मिलेंगी जो पहली बार संग्रहीत की गई हैं। सकलन का विषय वर्गीकरण भी नवीन दृष्टि से किया गया है और अनुवाद की भाषा भी बड़ी सरल और भावग्राही है।

इस सकलन के संपादक हैं—श्री गणेश मुनि जी शास्त्री । जैन साहित्य के क्षेत्र में श्री गणेश मुनि जी एक जाने-माने विद्वान सत हैं । आप बहुमुखी प्रतिभा के धनी हैं, लेखक, कवि, गायक एवं वक्ता—सभी विशेषताएँ आप में विद्यमान हैं । आपकी कृतियों में “आधुनिक विज्ञान और अहिंसा” “अहिंसा की बोलती मीनारें” अहिंसा-प्रधान विचार साहित्य में विशिष्ट स्थान रखती हैं । उनमें आपकी चिंतक व दार्शनिक प्रतिभा का सुन्दर रूप झलकता है ‘इन्द्रभूति गीतम’ मुनि श्री की एक शोधप्रधान सर्वथा मौलिक कृति है जिसमें अब तक के अछूते विषय को बड़े ही सुन्दर सुसूचितपूर्ण एवं तथ्यात्मक ढंग से प्रस्तुत किया गया है । विषय के प्रस्तुतीकरण की कला मुनिश्रीजी में अपनी विशिष्ट है । काव्य साहित्य में ‘वाणी वीणा’ एवं ‘सुबह के भूले’ काव्य शैली के सुन्दरतम नमूने हैं । अब तक विविध विषयों पर आपने लगभग २१ से अधिक पुस्तकें लिखी हैं जो साहित्यिक क्षेत्र में आदर के साथ अपनाई गई हैं ।

प्रस्तुत पुस्तक के सम्बन्ध में अधिक कहने की अपेक्षा नहीं होगी, पाठक व दर्शक स्वयं ही इसे देख कर मुक्त मन से प्रशंसा कर उठेगा, और गीता, रामायण एवं धम्मपद की भाँति इसे भी अपने नित्य पठनीय ग्रंथों की पवित्र पक्ति में रखकर कृतार्थता अनुभव करेगा ।

इस प्रकाशन को मुद्रण आदि की दृष्टि से सुन्दर व आकर्षक बनाने में यशस्वी संपादक श्री श्रीचन्द जी सुराना ‘सरस’ का हार्दिक सहयोग मिला है, जिस कारण पुस्तक का मुद्रण शुद्ध, सुन्दर व वाह्य रूप भावपूर्ण बना है । इस प्रकाशन में अर्थ सहयोग देने वाले दानी-मानी उदार चेता महानुभावों का हम हार्दिक आभार मानते हैं । अमर जैन साहित्य संस्थान की ओर से प्रकाशित महत्वपूर्ण साहित्य की पक्ति में यह ग्रंथ अपना विशेष स्थान बनायेगा और पाठकों के मन को रुचिकर लगेगा इसी आशा के साथ—

मन्त्री

राजेन्द्रकुमार महेता

अनुक्रम

धर्म और दर्शन (१)

१.	धर्म	२
२	अहिंसा	१०
३.	सत्य	१८
४.	अस्तेय	२६
५.	ब्रह्मचर्य	३०
६.	अपरिग्रह	४०
७	ज्ञान	४६
८.	श्रद्धा	५४
९.	तप	५६
१०.	भावना	६०
११.	साधना	६८
१२.	समभाव	७०
१३	सम्यग्दर्शन	७२
१४.	वीतराग-भाव	७६
१५	लेश्या-स्वरूप	८२
१६.	तत्त्व-स्वरूप	८४
१७	आत्मा	९२
१८	मोक्ष	१००

जीवन और कला (२)

१९	विनय	१०८
२०.	वैराग्य	११४
२१	सयम	११८
२२.	श्रमण	१२२
२३	श्रमण-धर्म	१३२
२४.	गुरु-शिष्य	१३८
२५.	मिक्षाचरी	१४२
२६	इन्द्रिय-निग्रह	१४८

२७.	मनोनिग्रह	१५०
२८.	श्रावक-धर्म	१५२
२९	ब्राह्मण कौन ?	१५६
३०.	क्षमा	१६०
३१.	मृत्यु-कला	१६२
३२	कषाय	१६६
३३.	क्रोध	१७०
३४	मान	१७४
३५.	माया	१७८
३६.	लोभ	१८०
३७	मोह	१८४
३८.	राग-द्वेष	१८८
३९.	कर्मवाद	१९२
४०.	सदाचार	२००
४१.	साधक-जीवन	२०४

शिक्षा और व्यवहार (३)

४२	शिक्षा	२१२
४३.	मनुष्य-जन्म	२१८
४४	भाषा-विवेक	२२०
४५	रात्रि-भोजन त्याग	२२८
४६.	विषय भोग-मुक्ति	२३०
४७.	पाप-परिणाम	२३८
४८.	अज्ञान	२४२
४९	ज्ञानी-अज्ञानी	२४६
५०.	अप्रमाद	२५०
५१	तृष्णा	२५४
५२.	स्नेहसूत्र	२५८
५३.	यज्ञ	२६०
५४.	परलोक	२६२
५५.	बोध-सूत्र	२६६
५६.	विकीर्ण सुभाषित	२७२



के
हजार उपदेश

धर्म और दर्शन (१)

धर्म	●
अहिंसा	●
सत्य	●
अस्तेय	●
ब्रह्मचर्य	●
अपरिग्रह	●
ज्ञान	●
श्रद्धा	●
तप	●
भावना	●
साधना	●
समभाव	●
सम्यग्दर्शन	●
वीतरागभाव	●
लेश्या-स्वरूप	●
तत्त्वस्वरूप	●
आत्मा	●
मोक्ष	●

धर्म

१

धम्मो मगलमुक्किट्ठ अहिंसा सजमो तवो ।
देवा वि त नमसन्ति जस्स धम्मो सयामणो ॥

२

जरा मरणवेगेण, वुज्झमाणाण पाणिण ।
धम्मो दीवो पइठ्ठा य, गई सरणमुत्तम ॥

३

जरा जाव न पीडेइ, वाही जाव न वड्ढइ ।
जाविदिया न हायति, ताव धम्म समायरे ॥

४

एगा धम्मपडिमा, ज से आया पज्जवजाए ।

५

सययं मूढे धम्म नाभिजाणइ ।

६

धम्मो हरए वम्भे सन्तितित्थे,
अणाविले अत्तपसन्नलेसे ।
जहिं सिणाओ विमलो विसुद्धो,
सुसीइभूओ पजहामि दोस ॥

७

एक्को हु धम्मो नरदेव । ताण,
न विज्जई अन्नमिहेइ किंचि ।

१ दश० १/१ । २. उत्त० २३/६८ । ३ दश० ८/३६ । ४ स्था० १/१/४० । ५. आचा० ३/१ । ६. उत्त० १२/४६ । ७ उत्त० १४/४० ।

धर्म

१

धर्म उत्कृष्ट मंगल है। वह अहिंसा, सयम, तपरूप है। जिस साधक का मन सदा उक्त धर्म में रमण करता है, उसे देवता भी नमस्कार करते हैं।

२

जरा और मृत्यु के वेगवाले प्रवाह में बहते हुए प्राणियों के लिए धर्म ही एक द्वीप (बेट) है, आधार है और उत्तम गति व शरण है।

३

जब तक वृद्धावस्था नहीं आती, जब तक व्याधियों का जोर नहीं बढ़ता, जब तक इन्द्रियाँ क्षीण नहीं होती, तब तक विवेकी आत्मा को जो भी धर्म का आचरण करना हो, वह कर लेना चाहिए।

४

धर्म ही एक ऐसा पवित्र अनुष्ठान है, जिससे आत्मा का शुद्धीकरण होता है।

५

सदा विषय-वासना में रचा-पचा रहनेवाला (मूढ़) मनुष्य धर्म के तत्त्व को नहीं पहचान पाता।

६

धर्म मेरा जलाशय है, ब्रह्मचर्य शान्ति तीर्थ है, और कलुषभाव-रहित आत्मा प्रसन्न लक्ष्या है, जो मेरा निर्मल घाट है, जहाँ पर आत्मा स्नान कर कर्म-रज से मुक्त होती है।

७

राजन् ! एक धर्म ही रक्षा करनेवाला है, उसके सिवाय ससार में कोई भी मनुष्य का रक्षक नहीं है।

८

जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तई ।
अहम्म कुणमाणस्स, अफला जन्ति राइओ ॥

९

जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तई ।
धम्म च कुणमाणस्स, सफला जन्ति राइओ ॥

१०

सोच्चा जाणइ कल्लाण, सोच्चा जाणइ पावग ।
उभय पि जाणइ सोच्चा, ज सेय त समायरे ॥

११

माणुस्स विग्गह लद्धु, सुई धम्मस्स दुल्लहा ।
ज सोच्चा पडिवज्जति, तव खतिमहिंसय ॥

१२

एगे चरेज्ज धम्म ।

१३

विणओ वि तवो, तवो पि धम्मो ।

१४

जहा य तिन्नि वाणिया, मूल घेत्तूण निग्गया ।
एगोऽत्थ लहइ लाभ एगो मूलेण आगओ ॥

१५

एगो मूल पि हारित्ता, आगओ तत्थ वाणिओ ।
ववहारे उवमा एसा, एव धम्मे वियाणह ॥

८

जो-जो रात और दिन एक बार अतीत की ओर चले जाते हैं, वे पुनः कभी नहीं लौटते, जो मनुष्य अधर्म, पाप कर्म करता है, उसके वे रात-दिन विल्कुल व्यर्थ जाते हैं ।

९

जो-जो रात और दिन एक बार अतीत की ओर चले जाते हैं, वे पुनः कभी नहीं लौटते, जो मनुष्य धर्म करता है, उसके वे रात-दिन पूर्ण सफल हो जाते हैं ।

१०

यह आत्मा सुनकर ही धर्म का मार्ग जानता है और सुनकर ही पाप का । दोनों मार्ग सुनकर ही जाने जाते हैं । जो अभीष्ट कल्याणकर प्रतीत हो उसका आचरण करे ।

११

मानव-देह पाकर भी सद्धर्म का श्रवण अति दुर्लभ है, जिसे सुनकर मनुष्य तप, क्षमा और अहिंसा को स्वीकार करते हैं ।

१२

भले ही कोई सहयोग न दे, अकेले ही सद्धर्म का आचरण करना चाहिए ।

१३

विनय एक स्वयं तप है और वह आभ्यन्तर तप होने से श्रेष्ठतम धर्म है ।

१४

किसी समय तीन वणिक पुत्र मूलपूँजी लेकर धन कमाने निकले । उनमें से एक को लाभ हुआ, दूसरा अपनी मूलपूँजी ज्यों की त्यों बचा लाया—

१५

और तीसरा मूल को भी गवाकर वापस आया । यह व्यापार की उपमा है, इसी प्रकार धर्म के विषय में भी जानना चाहिए ।

१६

माणुसत्त भवे मूल, लाभो देवगई भवे ।
मूलच्छेएण जीवाण, नरग-तिरिक्खत्तण धुव ॥

१७

समियाए धम्ममे आरिएहि पवेइए ।

१८

टुविहे धम्ममे—सुयधम्ममे चेव चरित्तधम्ममे चव ।

१९

अविसवायणसपन्नयाए ण जीवे,
धम्मस्स आराहए भवइ ।

२०

अत्थेगइयाण जीवाण सुत्तत्त साहू,
अत्थेगइयाण जीवाण जागरियत्त साहू ॥

२१

अत्थेगइयाण जीवाण वलियत्त साहू,
अत्थेगइयाण जीवाण दुब्बलियत्त साहू ॥

२२

जहा से दीवे असदीणे,
एव से धम्ममे आयरियपदेसिए ।

२३

चत्तारि धम्मदारा—
खती, मुत्ती, अज्जवे, मद्देवे ।

२४

धम्ममे ठिओ अविमणे, निव्वाणमभिगच्छइ ।

२५

दिव्व च गइ गच्छन्ति चरित्ता धम्मारिय ।

१६. उत्त० ७।१६ । १७ आ० १।८।३ । १८. स्या० २।१ १९ उत्त० २६।४८ । २० भग० १।२।२ । २१ भग० १।२।२ । २२ आचा० ६।३।४ । २३ म्या० ४।४ । २४. दणा० श्रु० ५।१ । २५. उत्त० १।८।२५ ।

१६

मनुष्यत्व मूलधन है। देवगति लाभरूप है और जो मनुष्य नरक तथा तिर्यक्गति को प्राप्त होता है, वह अपनी मूलपूँजी को भी गवा देनेवाला मूर्ख है।

१७

आर्य महापुरुषो ने समभाव से धर्म कहा है।

१८

धर्म के दो रूप हैं—श्रुतधर्म और चारित्रधर्म।

१९

कपटरहित आत्मा ही धर्म का सच्चा आराधक होता है।

२०

अधार्मिक आत्माओं का सोते रहना अच्छा है और धर्मनिष्ठ आत्माओं का जागते रहना।

२१

धर्मनिष्ठ आत्माओं का बलवान होना अच्छा है और धर्म-हीन आत्माओं का दुर्बल रहना।

२२

तीर्थंकर भगवान् के द्वारा उपदिष्ट धर्म, पानी से कभी भी न ढकने-वाले द्वीप के समान प्राणियों के लिए शरणभूत एवं रक्षक है।

२३

धर्म के चार द्वार हैं—क्षमा, सन्तोष, सरलता और नम्रता।

२४

जो बिना किसी विमनस्कता के पवित्रचित्त से धर्म में स्थित है, वह निर्वाण को प्राप्त करता है।

२५

जो आर्य धर्म का सम्यक् आचरण करता है, वह दिव्यगति को प्राप्त करता है।

२६
धम्म चर । सुदुच्चरं ।

२७
गामे वा अदुवा रण्णे ।
नेव गामे नेव रण्णे, धम्ममायाणह ॥

२८
दीवे व धम्म ।

२९
मेहावी जाणिज्ज धम्म ।

३०
विस तु पीय जह कालकूडं,
हणाइ सत्थ जह कुग्गहीय ।
एसो वि धम्मो, विसओववन्नो,
हणाइ वेयाल इवाविवन्नो ॥

३१
धम्मविउ उज्जू ।

३२
चरिज्जधम्म जिणदेसिय विदू ।

३३
सोही उज्जुअभूयस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई ।

३४
जरा मच्चुवसोवणीए नरे,
सयय मूढे धम्म नाभिजाणइ ॥

३५
उत्तमधम्म सुई हु दुल्लहा ।

३६
धम्मस्स विणओ मूल ।

-
२६. उत० १८।३३ । २७. आचा० १।८।१ । २८. सूत्र० ६।४ ।
२९. आचा० ६।८ । ३०. उत० २०।४४ । ३१. आचा० ३।१ ।
३२. उत० २१।१२ । ३३. उत० ३।१२ । ३४. आचा० ३।१।४ ।
३५. उत० १०।१८ । ३६. दस० ६।२।२ ।

२६

जो धर्म आचरण में कठिनाईवाला और फल में अच्छाईवाला प्रतीत हो, उसका सम्यक् रीति से पालन करना चाहिए ।

२७

धर्म गाँव में भी हो सकता है और जंगल में भी । वस्तुतः धर्म न कहीं गाँव में होता है और न कहीं जंगल में ही, बल्कि वह तो अन्तरात्मा में होता है ।

२८

धर्म दीपक की तरह अज्ञान-अन्धकार को दूर करनेवाला है ।

२९

बुद्धिमान पुरुष को धर्म का परिज्ञान करना चाहिए ।

३०

जैसे पिया हुआ कालकूट विष और अविधि से पकड़ा हुआ शस्त्र अपना ही घातक होता है, उसी प्रकार शब्दादि विषयो की पूर्ति के लिए किया हुआ धर्म भी, अनियन्त्रित वेताल के समान साधक का विनाश कर डालता है ।

३१

श्रुत-चारित्र्यरूप धर्म का विज्ञाता सरल होता है ।

३२

बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए कि वह जिन-द्वारा उपदिष्ट धर्म का आचरण करे ।

३३

सरल आत्मा की शुद्धि होती है और शुद्धात्मा में ही धर्म स्थिर रह सकता है ।

३४

वृद्धावस्था और मृत्यु के वशीभूत तथा सदैव मूढ़ बना हुआ प्राणी धर्म के तत्त्व को नहीं जानता ।

३५

उत्तम धर्म का श्रवण मिलना निश्चय ही दुर्लभ है ।

३६

धर्म का मूल विनय है ।

अहिंसा

३७

सर्वे पाणा पियाउया सुहसाया दुखपडिक्कला अप्पियवहा
पियजीविणो, जीविउकामा सर्वेसि जीविय पिय ।

३८

एव खु नाणिणो सार, ज न हिंसइ किचण ।

३९

जगनिस्सिएहि भूएहि, तसनामेहि थावरेहि च ।
नो तेसिमरभे दण्ड, मणसा वयसा कायसा चेव ॥

४०

सय तिवायए पाणे, अदुवऽन्नेहि घायए ।
हणन्त वाऽणु जाणाइ, वेर वड्ढइ अप्पणो ॥

४१

आय तुले पयासु ।

४२

सवुज्झमाणे उ नरे मइम,
पावाउ अप्पाण निवट्टएज्जा ।
हिंसप्पसूयाइ दुहाइ मत्ता,
वेरानुवन्धीणि महव्भयाणि ॥

४३

समया सव्वभूएसु, सत्तुमित्तसु वा जगे ।

३७ आ० २।२।३ ।

३८ सूत्र० १।११।१० ।

३९. उत्त० ८।१० ।

४०. सूत्र० १।१।१।३ ।

४१. सूत्र० १।११।३ ।

४२. सूत्र० १।१०।२१ ।

४३. उत्त० १।१।२५ ।

अहिंसा

३७

सभी जीवों को अपना आयुष्य प्रिय है, सुख अनुकूल है और दुःख प्रतिकूल है। वध सभी को अप्रिय लगता है और जीना सबको प्रिय लगता है। प्राणी-मात्र जीवित रहने की कामनावाले हैं। सबको अपना जीवन प्रिय लगता है।

३८

किसी भी प्राणी की हिंसा न करना ही ज्ञानी होने का सार है।

३९

लोकाश्रित जो व्रस और स्थावर जीव है, उनके प्रति मन-वचन और काया—किसी भी प्रकार से दण्ड का प्रयोग न करें।

४०

जो व्यक्ति प्राणियों की स्वयं हिंसा करता है, दूसरों से हिंसा करवाता है और हिंसा करनेवालों का अनुमोदन करता है, इस प्रकार वह ससार में अपने लिये वैर-भाव को ही बढ़ाता है।

४१

प्राणियों के प्रति आत्मतुल्य-भाव रखो।

४२

सम्यग्बोध प्राप्त मतिमान् मनुष्य हिंसा से उत्पन्न होनेवाले वैर-भाव तथा महाभयकर दुःखों को जानकर अपने को हिंसा से बचावे।

४३

शत्रु अथवा मित्र सभी प्राणियों पर समभाव की दृष्टि रखना ही अहिंसा है।

४४

नाइवाएज्ज क च ण ।

४५

उड्ढ अहे य तिरिय, जे केड तसथावरा ।
सव्वत्थ विरइ विज्जा, सति निव्वाणमाहियं ॥

४६

पभूदोसे निराकिच्चा, न विरुज्जेज्ज केण वि ।
मणसा वयसा चेव, कायसा चेव अन्तसो ॥

४७

तमाओ ते तम जति, मदा आरम्भनिस्सिया ।

४८

सव्वे जीवा वि इच्छति, जीविउ न मरिज्जिउ ।

४९

तत्थिम पढम ठाण, महावीरेण देसिय ।
अहिंसा निउण दिट्ठा, सव्वभूएसु सजमो ॥

५०

अप्पेगे हिंसिसु मे त्ति वा वहति,
अप्पेगे हिंसति मे त्ति वा वहति,
अप्पेगे हिंसिस्सति मे त्ति वा वहति ।

५१

जे य बुद्धा अतिक्कता, जे य बुद्धा अणागया ।
सति तैसि पड्डाण, भूयाण जगई जहा ॥

४४ वाचा० २।४ । ४५. सूत्र० १।११।११ । ४६. सूत्र० १।११।१२ ।
४७ नून० १।११।१४ । ४८. दश० ६।१० । ४९. दश० ६।८ ।
५० आ० १।१।६ । ५१ सूत्र० १।११।३६ ।

४४

किसी भी जीव का अतिपात—हिंसा मत करो ।

४५

उर्ध्व-लोक अधो-लोक और तिर्यग्-लोक—इन तीनों लोको में जितने भी त्रस और स्थावर जीव हैं उनके प्राणों का विनाश करने से दूर रहना चाहिए । वैर की शांति को ही निर्वाण कहा गया है ।

४६

जीतेन्द्रिय पुरुष मिथ्यात्व-आदि दोष दूर करके किसी भी प्राणी के साथ जीवन पर्यन्त, मन, वचन और काया से वैर-विरोध न करे ।

४७

परपीडा में प्रमोद मनानेवाले अज्ञानी जीव अन्धकार से अन्धकार की ओर ही जाते हैं ।

४८

सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता ।

४९

भगवान् महावीर ने उन अठारह धर्म-स्थानों में प्रथम स्थान अहिंसा का कहा है । इसे उन्होंने सूक्ष्मता से देखा है । सब जीवों के प्रति सयम रखना अहिंसा है ।

५०

‘इसने मुझे मारा’—कुछ लोग इस विचार से हिंसा करते हैं ।
‘यह मुझे मारता है’—कुछ लोग इस विचार से हिंसा करते हैं ।
‘यह मुझे मारेगा’—कुछ लोग इस विचार से हिंसा करते हैं ।

५१

जिस प्रकार जीवों का आधार स्थान पृथ्वी है वैसे ही भूत और भावी ज्ञानियों के जीवन-दर्शन का आधार-स्थान शान्ति अर्थात् अहिंसा है । सारांश यह है कि तीर्थंकरों को इतना ऊँचा पद प्राप्त होता है वह अहिंसा के उत्कृष्ट पालन से ही ।

५२

उराल जगओ जोग, विवज्जास पलन्ति य ।
सव्वे अक्कतदुक्खा य, अओ सव्वे अहिमिया ॥

५३

सव्व जग तु समयाणुपेही ।
पियमप्पियं कस्सड नो करेज्जा ॥

५४

अणेनिसस्स खेयत्ते, ण विरुज्जेज्ज केणड ।

५५

आरम्भज दुक्खमिण ।

५६

अट्ठा हणति, अणट्ठा हणन्ति ।

५७

कुट्ठा हणति, लुट्ठा हणति, मुट्ठा हणति ।

५८

अहिंसा तत्त-यावर-सव्वभूयखेमकरी ।

५९

भगवती अहिंसा भीयाण विव सरण ।

६०

मेत्ति भूएनु कप्पए ।

६१

एग र्णि हणमाणे अणने जीवे हणड ।

५२

एक जीव जो एक जन्म में त्रस होता है, वही दूसरे जन्म में स्थावर होता है। त्रस हो या स्थावर, सभी जीवों को दुःख अप्रिय होता है ऐसा मानकर भव्यात्मा को अहिंसक बने रहना चाहिए।

५३

भव्यात्मा को चाहिये कि वह समस्त ससार अर्थात् सभी जीवों को समभाव से देखे। वह किसी को प्रिय और किसी को अप्रिय न बनाएँ।

५४

सयम-निष्णात मनुष्य को किसी के भी साथ वैर-विरोध नहीं करना चाहिए।

५५

यह जो प्राणियों में नाना प्रकार का दुःख देखा जाता है, वह आरम्भ-जनित है। अर्थात् हिंसा में से उत्पन्न होता है।

५६

कुछ लोग प्रयोजन से हिंसा करते हैं तथा कुछ लोग बिना प्रयोजन के भी।

५७

कुछ लोग क्रोध से हिंसा करते हैं, कुछ लोग लोभ से हिंसा करते हैं और कुछ लोग अज्ञानता के वशीभूत होकर हिंसा करते हैं।

५८

अहिंसा त्रस और स्थावर सभी प्राणियों का कुशल-क्षेम-मंगल करने वाली है।

५९

भयाकुल प्राणी के लिए शरण की प्राप्ति श्रेष्ठ होती है। वैसे ही प्राणियों के लिए भगवती अहिंसा की शरण विशेष हितकर है।

६०

समस्त जीवों पर मैत्रीभाव रखें।

६१

एक अहिंसक ऋषि-आत्मा की हत्या करनेवाला अनन्त जीवों की हिंसा करनेवाले के समान है।

६२

अत्थि सत्थ परेण पर, नत्थि असत्थ परेण पर ।

६३

सव्वे अक्कतदुक्खा य, अओ सव्वे अहिंसिया ।

६४

तुमसिनाम सच्चवेव, ज हतव्व ति मन्नसि ।

६५

न य वित्तासए पर ।

६६

रुहिरकयस्स वत्थस्स रुहिरेण चेव,
पक्खालिज्जमाणस्स णत्थि सोही ।

६७

हिसन्निय वा न कह कहेज्जा ।

६८

से हु पन्नाणमते वुद्धे आरभोवरए ।

६९

न हणे पाणिणो पाणे, भयवेराओ उवरए ।

७०

जावन्ति लोए पाणा, तसा अदुव थावरा ।
ते जाणमजाण वा, न हणे नो वि घायए ॥

७१

न हु पाणवह अणुजाणे,
मुच्चेज्ज कयाई सव्वदुक्खाण ।

७२

एस खलु गन्थे, एस खलु मोहे,
एस खलु मारे, एस खलु णरए ।

७३

सव्वपाणा न हीलियव्वा, न निदियव्वा

६२ आचा० ३।४ ।

६३ सूत्र० १।४।२ ।

६४ आचा० ५।५ ।

६५ उक्त० २।२० ।

६६ ज्ञाता० १।५ ।

६७ सूत्र० १०।१० ।

६८ आचा० ४।४ ।

६९ उक्त० ६।७ ।

७० दश० ६।१० ।

७१ उक्त० ८।८ ।

७२ आचा० १।१।२ ।

७३ प्रश्न० २।१ ।

६२

शस्त्र—हिंसा एक से एक बढ़कर है, किन्तु अशस्त्र—अहिंसा से बढ़कर कोई शस्त्र नहीं है। साराश कि अहिंसा से बढ़कर दूसरी कोई साधना नहीं है।

६३

सभी प्राणियों को दुःख अप्रिय है, अतः किसी को नहीं मारना चाहिए।

६४

जिसे तू मारना चाहता है, वह तू ही है। अर्थात् उसकी और तेरी आत्मा एक समान है।

६५

किसी भी प्राणी को दुःख नहीं देना चाहिए।

६६

खून से सना वस्त्र खून से धोने से शुद्ध नहीं होता।

६७

आत्मार्थी साधक हिंसा को उत्पन्न करनेवाली कथा न करे।

६८

जो हिंसात्मक प्रवृत्ति से विलग है, वही बुद्ध—ज्ञानी है।

६९

भय और वैर से निवृत्त हुए प्राणियों के प्राणों का घात न करे।

७०

इस लोक में जितने भी त्रस और स्थावर प्राणी हैं उन सब की जाने-अनजाने हिंसा नहीं करना और न दूसरों से भी करवाना चाहिए।

७१

प्राणवध का अनुमोदन करनेवाला पुरुष कदापि सर्वदुःखों से मुक्त नहीं हो सकता।

७२

प्राणीहिंसा ही वस्तुतः ग्रन्थ—बन्धन है, यही मोह है, यही मृत्यु है, और यही नरक है।

७३

ससार के किसी भी प्राणी की न अवहेलना (तिरस्कार) करनी चाहिए और न निन्दा।

सत्य

७४

त सच्च खु भगव ।

७५

भासियव्व हिय सच्च ।

७६

अप्पणट्ठा परट्ठा वा, कोहा वा जइ वा भया ।
हिसग न मुस वूया, नोवि अन्न वयावए ॥

७७

मुसावाओ य लोगम्मि, सव्वसाहूहि गरहिओ ।
अविस्सासोय भूयाण, तम्हा मोस विवज्जए ॥

७८

सच्च लोगम्मि सारभूय, गम्भीरतर महासमुदाओ ।

७९

न लवेज्ज पुट्ठो सावज्ज, न निरट्ठ न मम्मय ।
अप्पणट्ठा परट्ठा वा, उभयस्सन्तरेण वा ॥

८०

लुद्धो लोलो भणेज्ज अलिय ।

७४ प्रश्न० २।२ ।

७५. उत्त० १६।२६ ।

७६. दश० ६।११ ।

७७. दश० ६।१२ ।

७८. प्रश्न० २।२ ।

७९. उत्त० १।२५ ।

८० प्रश्न० २।२ ।

सत्य

७४

वह सत्य ही भगवान् है ।

७५

सदा हितकारी सत्य वचन बोलना चाहिए ।

७६

निर्ग्रन्थ अपने स्वार्थ के लिये या दूसरो के लिये क्रोध से, या भय से किसी प्रसंग पर दूसरो को पीडा पहुँचानेवाला सत्य या असत्य वचन न तो स्वयं बोले न दूसरो से बुलवाये ।

७७

इस विश्व में सभी सन्त पुरुषो ने मृपावाद अर्थात् असत्य वचन की घोर निन्दा की है । क्योंकि वह सभी प्राणियो के लिए अविश्वसनीय है । अतः असत्यवचन का परित्याग करना चाहिए ।

७८

इस लोक में सत्य ही सार तत्व है । यह महासमुद्र से भी अधिक गम्भीर है ।

७९

किसी के पूछने पर भी अपने स्वार्थ के लिए अथवा दूसरो के लिये पाप युक्त निरर्थक वचन न बोले और मर्मभेदक वचन भी नहीं बोलना चाहिए ।

८०

मनुष्य लोभ से प्रेरित होकर झूठ बोलता है ।

८१

तहेव काण काणे त्ति, पण्डग पण्डगे त्ति वा ।
वाहियं वा वि रोगि त्ति, तेण चोरे त्ति नो वए ॥

८२

अप्पणो थवणा, परेसुनिन्दा ।

८३

पुरिसा । सच्चमेव समभिजाणाहि ।

८४

‘सच्चम्मि धिइ कुव्विहा,
एत्थोवरए मेहावी सव्व पाव कम्म झोसइ ।

८५

तहेव फरुसा भासा, गुरुभूओवाघडणी ।

८६

तहेव सावज्जऽणुमोयणी गिरा,
ओहारिणी जा य परोवघायणी ।
से कोह लोह भय हास माणवो,
न हासमाणो वि गिर वएज्जा ॥

८७

सच्चस्म आणाए उवट्ठिए मेहावी मार तरड ।

८८

नहिओ दुक्खमत्ताए पुट्ठो नो ज्ञप्पाए ।

८१

काने को काना, नपुसक को नपुसक, रोगी को रोगी और चोर को चोर कहना यद्यपि सत्य है, तथापि ऐसा कहना उचित नहीं है। (क्योंकि इससे उन आत्माओं को दुःख पहुँचता है।)

८२

अपनी प्रशंसा और दूसरों की निन्दा भी असत्य के जैसा ही है।

८३

हे पुरुष ! तू सत्य को पहचान।

८४

सत्य में दृढ़ रहो। सत्याभिभूत बुद्धिमान् व्यक्ति सभी पाप कर्मों को नष्ट कर डालता है।

८५

जो भाषा कठोर हो और दूसरों को पीडा पहुँचानेवाली हो, वैसी भाषा न बोले।

८६

श्रेष्ठ साधु पापकारी, निश्चयकारी और जीव-घातकारी भाषा न बोले, इसी तरह क्रोध लोभ भय और हास्य से भी पापकारी वाणी न बोले। हँसते हुए भी नहीं बोलना चाहिए।

८७

जो मतिमान् साधक सत्य की आज्ञा में सदा तत्पर रहता है, वह मार—अर्थात् मृत्यु के प्रवाह को पार कर जाता है।

८८

सत्य-निष्ठ साधक सब ओर दुःखों से घिरा रहकर भी घबराता नहीं है और न विचलित ही होता है।

८९

सच्चेण महासमुद्धमज्जे वि चिट्ठ ति, न निमज्जति ।

९०

जे ते उ वाइणो एव, न ते ससारपारगा ।

९१

सच्चेसु वा अणवज्ज वयति ।

९२

सच्च च हिय च मिय च गाहण च ।

९३

सच्च जसस्स मूल, सच्च विस्सासकारणपरम ।
सच्च सगद्धार, सच्च सिद्धीइ-सोपाण ॥

९४

सच्च पि य सजमस्स उवरोहकारक किञ्चि वि न वत्तव्व ।

९५

सच्च सोमतरं चदमडलाओ,
दित्तर सूरमण्डलाओ ।

९६

सच्चा वि सा न वत्तव्वा, जओ पावस्स आगमो ।

८९. प्रश्न० २।२।

९०. प्रश्न० २।२ ।

९५. प्रश्न० २।२ ।

९० मूत्र० १।१।१।२१ ।

९३ धर्ममग्नह ।

९६. दश० ७।११ ।

९१ सूत्र० ६।२३ ।

९४. प्रश्न० २।२ ।

८६

सत्य के प्रभाव से मनुष्य महासमुद्र में भी सुरक्षित रहते हैं डूबते नहीं ।

८७

जो मनुष्य असत्य का पोषण करते हैं, वे ससार-सागर को पार नहीं कर सकते ।

८८

सत्य वचनों में भी अनवद्य सत्य अर्थात् हिंसा-रहित सत्य वचन श्रेष्ठ है ।

८९

साधक को ऐसा सत्य वचन बोलना चाहिए, जो हित, मित और ग्राह्य हो ।

९०

सत्य यज्ञ का मूल है, सत्य विश्वास का परम कारण है, सत्य स्वर्ग का द्वार है और सत्य ही सिद्धि का सोपान है ।

९१

सत्य भी यदि समय का विधातक हो तो, उसे बोल कर प्रकट नहीं करना चाहिए ।

९२

मत्य—चन्द्र मण्डल से भी अधिक सौम्य है और सूर्य मण्डल से भी अधिक तेजस्वी—प्रभास्वर है ।

९३

ऐसा सत्य भी नहीं बोलना चाहिए, जिससे किसी प्रकार का पापागम—अनर्थ होता हो ।

६७

न लवे असाहु साहु त्ति,
साहु साहु त्ति आलवे ।

६८

अलियवयण अयसकर
वेरकरग, मणसकिलेसवियरण ।

६९

मणुयगणाण वदणिज्ज अमरगणाण अच्चणिज्ज ।

१००

ओए तहीय फरुस वियाणे ।

१०१

अप्पणा सच्चमेसिज्जा ।

१०२

सया सच्चेण सम्पन्ने मेत्ति भूएसुकप्पए ।

६७

किसी स्वार्थ या दवाव के कारण असाधु को साधु नहीं कहना चाहिए, साधु को ही साधु कहना चाहिए ।

६८

असत्यवचन बोलने से बदनामी होती है, परस्पर वैर बढ़ता है, और मन में सकलेश की अभिवृद्धि होती है ।

६९

सत्य, मनुष्यों द्वारा स्तुत्य तथा देवों द्वारा अर्चनीय है ।

१००

सत्य वचन भी यदि कठोर हो, तो वह मत ब्रोलो ।

१०१

अपनी आत्मा के द्वारा सत्य की खोज करो !

१०२

जिसकी अन्तरात्मा सदा सत्य भावों से सम्पन्न है, उसे विश्व के प्राणी-मात्र के साथ मित्रता रखनी चाहिये ।



अस्तेय

१०३

दन्तसोहणमाइस्स अदत्तस्स विवज्जण ।

१०४

तइय च अदत्तादाण हरदहमरण भयकलुस-
तासण परसतिमऽभेज्ज लोभमूल ..
अकित्तिकरण अणज्ज . साहुगरहणिज्ज
पियजणमित्तजण भेद विप्पीतिकारक रागदोसवहुल ॥

१०५

रूवे अतित्ते य परिग्गहे य,
सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठि ।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स,
लोभाविले आययई अदत्त ॥

१०६

चित्तमतमचित्त वा अप्प वा जइ वा वहु ।
दन्त सोहणमित्त पि, उग्गह से अजाइया ॥
त अप्पणा न गिण्हति, नो वि गिण्हावए पर ।
अन्न वा गिण्हमाण पि, नाणु जाणति सजया ॥

१०७

अणुन्नविय गेण्हियव्व ।

१०३ उक्त० १६।२८ । १०४. प्रश्न० ३।६ । १०५ उक्त० ३२।२६ ।
१०६ दश० ६।१३-१४ । १०७. प्रश्न० २।३ ।

अस्तेय

१०३

अस्तेय व्रत में निष्ठा रखनेवाला व्यक्ति बिना किसी की अनुमति के—यहाँ तक कि दाँत कुरेदने के लिए एक तिनका भी नहीं लेता ।

१०४

तीसरा अदत्तादान-दूसरो के हृदय को दाह पहुँचानेवाला, मरण, भय, पाप, कष्ट तथा परद्रव्य की लिप्सा का कारण तथा लोभ का कारण है । यह अपयश का कारण है, अनार्यकर्म है, सन्त पुरुषों द्वारा निन्दित है । प्रियजन और मित्रजनो में भेद करनेवाला है तथा अनेकानेक राग-द्वेष को उत्पन्न करनेवाला है ।

१०५

जो रूप में अवृत्त होता है उसकी आसक्ति बढ़ती ही जाती है, इसलिए उसे सन्तोष नहीं होता । असन्तोष के दोष से दुःखित होकर वह दूसरे की सुन्दर वस्तुओं का लोभी बनकर उन्हें चुरा लेता है ।

१०६

सचित्त पदार्थ हो या अचित्त, अल्प मूल्यवाला पदार्थ हो या बहुमूल्य, और तो क्या दाँत कुरेदने की शलाका भी जिस गृहस्थ के अधिकार में हो, उसकी बिना आज्ञा प्राप्त किये पूर्ण समयमी साधक न तो स्वयं ग्रहण करते हैं, न दूसरो को ग्रहण करने के लिए उत्प्रेरित करते हैं और न ग्रहण करनेवालो का अनुमोदन ही करते हैं ।

१०७

किसी भी चीज को आज्ञा लेकर ग्रहण करनी चाहिए ।

१०८

असंविभागी, असंगहरई अप्पमाणभोई....
से तारिसए नाराहए वयमिण ।

१०९

सविभागसीले सगहोवग्गहकुसले,
से तारिसए आराहए वयमिण ।

११०

लोभाविले आययई अदत्त ।

१११

असविभागी न हु तस्स मोक्खो ।

११२

परदव्वहरा नरा निरणुकपा निरवेक्खा ।

११३

परसंतिगग्गेलोभमूलं ।

१०८

जो असविभागी है, असग्रहरुचि है, अप्रमाणभोगी है, वह अस्तेय व्रत की सम्यक् आराधना नहीं कर सकता ।

१०९

जो सविभागशील है, सग्रह और उपग्रह में कुशल है, वही अस्तेयव्रत की सम्यग् आराधना कर सकता है ।

११०

जब व्यक्ति लोभ से अभिभूत होता है तब चौर्य-कर्म के लिए प्रवृत्त होता है ।

१११

जो सविभागी-प्राप्त सामग्री को साथियों में बाँटता नहीं है, उसकी मुक्ति नहीं होती ।

११२

दूसरो का धन हरण करनेवाले मनुष्य निर्दय एवं परभव की उपेक्षा करनेवाले होते हैं ।

११३

पर धन में गुद्धि का मूल हेतु लोभ है और यही चौर्य-कर्म है ।



ब्रह्मचर्य

११४

देव-दाणव-गधव्वा, जक्ख-रक्खस्स किन्नरा ।
वभयारि नमसन्ति, दुक्कर जे करति ते ॥

११५

जहा कुम्मे सअगाइं, सए देहे समाहरे ।
एव पावाइ मेहावी, अज्झप्पेण समाहरे ॥

११६

जे गुणे से आवट्टे, जे आवट्टे से गुणे ।

११७

तवेसु वा उत्तम-वभचेर ।

११८

वभचेर उत्तमतव-नियम-णाण-
दसण-चरित्त-सम्मत्त-विणयमूल ।

११९

जमि य भग्गमि होइ सहसा सव्व भग्ग
जमि य आराहियमि आराहिय वयमिण सव्व ।”

१२०

अणेगा गुणा अहीणा भवति एकमि वभचेरे ।

११४. उत्त० १६।१६ ११५. सूत्र० १।८।१६ ११६ आचा० १।५।४० ।
११७ सूत्र० १।६।२३ ११८ प्रश्न० २।४ ११९ प्रश्न० २।४
१२०. प्रश्न० २।४

ब्रह्मचर्य

११४

जो व्यक्ति दुष्कर ब्रह्मचर्य का पालन करता है, उस ब्रह्मचारी के चरणों में देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर ये सभी नमस्कार करते हैं ।

११५

जिस प्रकार कछुआ अपने अंगों को अन्दर में सिकोड़ कर खतरे से मुक्त हो जाता है, उसी प्रकार साधक अध्यात्मयोग के द्वारा अन्तराभिमुख होकर अपने आप को विषयों से वचाये रखे ।

११६

जो काम-गुण है, इन्द्रियों के शब्दादि विषय है वह आवर्त-ससार चक्र है और जो आवर्त है वही काम-गुण है ।

११७

तपो में उत्कृष्ट तप—ब्रह्मचर्य है ।

११८

ब्रह्मचर्य—उत्तम तप, नियम, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सम्यक्त्व और विनय का मूल है ।

११९

एक ब्रह्मचर्य के नष्ट होने पर अन्य सब गुण सहसा नष्ट हो जाते हैं, और एक ब्रह्मचर्य की आराधना कर लेने पर अन्य सब व्रतशील, तप, विनय आदि आराधित हो जाते हैं ।

१२०

एक ब्रह्मचर्य की साधना करने से अनेक गुण स्वतः प्राप्त हो जाते हैं ।

१२१

उगग महव्वय, धारेयव्व सुदुक्कर ॥

१२२

एए य सगे समइक्कमित्ता,
 सुदुत्तरा चेव भवति सेसा ।
 जहा महासागरमुत्तरित्ता,
 नई भवे अवि गगासमाणा ॥

१२३

मूलमेयमहम्मस्स, महादोस समुस्सय ।

१२४

जतुकुभे जहा उवजोई, सवास विदू विसीएज्जा ॥

१२५

एस धम्मे धुवे निच्चे, सासए जिणदेसिए ।
 सिद्धा सिज्झन्ति चाणेण, सिज्झस्सन्ति तहापरे ॥

१२६

कामाणुगिद्धिप्पभव खु दुक्ख,
 सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स ।

१२७

विभूस परिवज्जेज्जा, सरीर परिमडण ।
 वभचेररओ भिवखू, सिगारत्थ न धारए ॥

१२८

सद्दे रुवे य गन्धे, रसे फासे तहेव य ।
 पच्च विहे कामगुणे, निच्चसो परिवज्जए ॥

१२९

दुज्जए कामभोगे य, निच्चसो परिवज्जए ।

१२१. उत्त० १६।२८	१२२. उत्त० ३२।१८	१२३. दश० ६।१६
१२४. सूत्र० १।४।२६	१२५. उत्त० १६।१७	१२६. उत्त० ३२।१६
१२७. उत्त० १६।६	१२८. उत्त० १६।१०	१२९. उत्त० १६।१४

१२१

उग्र ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करना अति कठिन कार्य है ।

१२२

जो मनुष्य स्त्री-विषयक आसक्तियों का पार पा जाता है उसके लिए शेष समस्त आसक्तियाँ वैसे ही सुगम हो जाती हैं—जैसे महासागर को पार पा जानेवाले के लिए गंगा जैसी महानदी ।

१२३

अब्रह्मचर्य अधर्म का मूल है, महादोषो का स्थान है ।

१२४

जिस प्रकार लाक्षा-निर्मित घडा आग से पिघल जाता है वैसे ही मतिमान् पुरुष भी स्त्री के सहवास से विषाद को प्राप्त होता है ।

१२५

यह ब्रह्मचर्य धर्म, नित्य, शाश्वत और जिन द्वारा उपदिष्ट है । इसके द्वारा पूर्वकाल में अनेक जीव सिद्ध हुए हैं, हो रहे हैं और भविष्य में भी होंगे ।

१२६

देव भूमि से लेकर समस्त लोक में दुःख का मूल एक मात्र काम-भोगो की वासना ही है ।

१२७

ब्रह्मचर्य-साधनारत साधक-भिक्षु श्रृ गार का वर्जन करे और शरीर की शोभा बढ़ानेवाले केश, दाढ़ी आदि को श्रृ गार के लिए धारण न करे ।

१२८

ब्रह्मचारी-शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श इन पाँच प्रकार के काम-गुणों का सदा परित्याग करे ।

१२९

स्थिर-चित्त भिक्षु दुर्जय काम भोगो को हमेशा के लिए छोड़ दे ।

१३०

हत्थपायपडिच्छिन्न, कन्ननासविगप्पिय ।
अवि वाससय नारि, बभयारी विवज्जए ॥

१३१

जहा विरालावसहस्स मूले,
न मूसगाण वसही पसत्था ।
एमेव इत्थीनिलयस्स मज्जे,
न बभयारिस्स खमो निवासो ॥

१३२

जहा कुक्कुडपोअस्स, निच्च कुललओभय ।
एव खु बभयारिस्स, इत्थी विग्गहओ भय ॥

१३३

दुक्ख वभवय घोर ।

१३४

जहा नई वेयरणी, दुत्तरा इह समया ।
एव लोगसि नारीओ, दुत्तरा अमईमया ॥

१३५

वाउ व्व जालमच्चेइ पिया लोगसि इत्थिओ ।

१३६

इत्थिओ जे न सेवन्ति आइमोक्खा हु ते जणा ।

१३७

विसएसु मणुन्नेसु, पेम नाभिनिवेसए ।
अणिच्च तेसि विन्नाय, परिणाम पुग्गलाण य ॥

१३०. उत्त० ८।५६

१३१. उत्त० ३२।१३

१३२. दश० ८।५४

१३३ उत्त० १६।३४

१३४ सूत्र० १।३।४।१६

१३५. सूत्र० १।१५।८

१३६. सूत्र० १।१५।६

१३७. दश० ८।५६

१३०

जिसके हाथ, पैर कट चुके हो, नाक, कान बेडोल तथा जो सौ वर्ष आयु की हो गई हो, ऐसी वृद्धा और कुरूपा स्त्री का ससर्ग भी ब्रह्मचारी को छोड़ देना चाहिए ।

१३१

जैसे विल्ली की वस्ती के पास चूहों का रहना अच्छा नहीं होता, वैसे ही स्त्रियों के निवासस्थान के बीच ब्रह्मचारी का रहना योग्य नहीं है ।

१३२

जिस प्रकार भुर्गी के बच्चे को विल्ली द्वारा प्राण-हरण का सदा भय बना रहता है, ठीक उसी प्रकार ब्रह्मचारी को भी स्त्री-सम्पर्क में आते हुए अपने ब्रह्मचर्य के भग होने का भय बना रहता है ।

१३३

उग्र ब्रह्मचर्य व्रत का धारण करना अत्यन्त कठिन है ।

१३४

जिस प्रकार सर्व नदियों में वैतरणी नदी दुस्तर मानी जाती है उसी प्रकार इस लोक में अविवेकी पुरुष के लिए स्त्रियों का मोह जीतना अत्यन्त कठिन है ।

१३५

जैसे पवन अग्निशिखा को पार कर जाता है वैसे ही महान् त्यागी-पराक्रमी पुरुष प्रिय स्त्रियों के मोह को उल्लघन कर जाते हैं ।

१३६

जो पुरुष स्त्रियों का सेवन नहीं करते वे मोक्ष पहुँचने में सब से अग्रसर होते हैं ।

१३७

शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श इन समस्त पुद्गलों के परिणमन को अनित्य जानकर ब्रह्मचारी साधक मनोज्ञ-विषयों में राग-भाव न करे ।

१३८

विभूसा इत्थिससग्गो, पणीय रसभोयण ।
नरस्सत्तगवेसिस्स, विस तालउड जहा ॥

१३९

जेहि नारीण सजोगा, पूयणा पिट्ठओ कया ।
सव्वमेय निराकिच्चा, ते ठिया सुसमाहिए ॥

१४०

स इसी, स मुणी, स सजए, स एव भिक्खू,
जे सुद्ध चरइ बभचेरं ।

१४१

एक्कमि बभचेरे जमिय आराहियमि,
आराहियं वयमिण सव्व, तम्हा निउएण
बभचेर चरियव्व ।

१४२

अबभचरिय घोर, पमाय दुरहिट्ठिय ।
ना ऽ यरति मुणी लोए, भेयाययणवज्जिणो ॥

१४३

अदसण चेव अपत्थण च,
अचित्तण चेव अकित्तण च ।
इत्थी जणस्साऽऽरियज्झाण जुग्ग,
हिय सया बभवए रयाण ॥

१४४

जहा दवग्गी पडरिघणे वणे,
समारुओ नोवसम उवेइ ।
एविन्दियग्गी वि पगामभोइणो,
न बभयारिस्स हियाय कस्सई ॥

१३८

आत्मगवेपी पुरुष के लिए देह विभूषा, स्त्री-ससर्ग और प्रणीतरस का स्वादिष्ट भोजन तालपुट विष के समान है ।

१३९

जिन पुरुषों ने स्त्री ससर्ग और शरीर शोभा को तिलाञ्जलि दे दी है वे सभी विघ्नो पर विजय प्राप्त कर उत्तम समाधि में निवास करते हैं ।

१४०

वही ऋषि है, वही मुनि है, वही सयत है, और वही भिक्षु है, जो शुद्ध ब्रह्मचर्य का पालन करता है ।

१४१

जिसने एक ब्रह्मचर्य व्रत की आराधना की हो, उसने सभी उत्तमोत्तम व्रतों की सम्यक् आराधना की है—ऐसा मानना चाहिए । अतः कुशल साधक को ब्रह्मचर्य व्रत की पूर्णतया परिपालना करनी चाहिए ।

१४२

अब्रह्मचर्य लोक में घोर प्रमादजनक और घृणा प्राप्त करानेवाला है । चारित्र्य भग्न के स्थान से बचनेवाले अब्रह्मचर्य का कदापि सेवन नहीं करते ।

१४३

जो साधक ब्रह्मचर्य की साधना में लीन है, उनके लिए स्त्रियों को राग-दृष्टि से न देखना, न अभिलाषा करना, न मन से उनका चिन्तन करना और न प्रशंसा करना । ये सब सदा धर्म-ध्यान के लिये हितकर है ।

१४४

जैसे प्रचुर ईंधन वाले वन में लगी हुई तथा पवन के झोको से प्रेरित दावाग्नि शान्त नहीं होती, उसी प्रकार प्रकाम-भोगी-सरस एवं अधिक परिमाण में आहार करनेवाले की इन्द्रियाग्नि (कामाग्नि) शान्त नहीं होती । अतः ब्रह्मचारी के लिए प्रकाम-भोजन श्रेयस्कर नहीं होता ।

१४५

जे विन्नवणाहिंजोसिया, सतिन्नेहि समं वियाहिया ।

१४६

कुसीलवड्ढण ठाण, दूरओ परिवज्जए ।

१४७

त वभ.....वेरुलिओ चेव जहा मणिण,
जहा मउडो चेव भूसणाण, वत्थाण चेव खोमजुयल,
अरविंदं चेवपुप्फजेट्ट, गोसीस चेव चंदणाण,
हिमव चेव ओसहीण, सीतोदा चेव तिन्नगाण,
उदहीसु जहा सयभूरमणो, एरावण इव कुजराण,
• कप्पाण चेव वभलोए.....दाणाण चेव अभयदाण,
• तित्थयरे चेव जहा मुणीण • वणेसु जहा नन्दणवण पवरं ।

१४८

अवभयारी जे केइ, वंभयारी त्ति हं वए ।
गट्ठेव्व गवां मज्झे, विस्सरं नयई नदं ॥

१४५

जो पुरुष स्त्रियो द्वारा सेवित नहीं है वे सतीर्ण अर्थात् सिद्ध पुरुषों के सदृश कहे गये हैं ।

१४६

ब्रह्मचारी को वह स्थान दूर से ही त्याग देना चाहिए, जहाँ रहने से कुशील की वृद्धि होती हो ।

१४७

जैसे मणियो मे वैडूर्यमणि श्रेष्ठ है, भूषणो मे मुकुट प्रवर है, वस्त्रो मे क्षौम-युगल [बहुमूल्य रेशमी वस्त्र] मुख्य है, पुष्पो मे अरविन्द पुष्प उत्कृष्ट है, चन्दनो मे गोशीर्ष चन्दन प्रकृष्ट है, औषधियुक्त पर्वतो मे हिमवान् श्रेष्ठ है, नदियो मे सीतोदा बड़ी है, समुद्र मे स्वयम्भूरमण वृहत्तम है तथा हाथियो मे ऐरावत, स्वर्गो मे ब्रह्मस्वर्ग [पञ्चमस्वर्ग] दानो मे अमयदान, मुनियो मे तीर्थंकर और वनो मे नन्दनवन उत्कृष्ट है, वैसे ही ब्रतो मे ब्रह्मचर्य सर्वश्रेष्ठ है ।

१४८

ब्रह्मचारी न होते हुए भी जो यह कहे कि “मैं ब्रह्मचारी हूँ” वह गायो के समूह के बीच गर्दभ की तरह विस्वर नाद करता है ।

अपरिग्रह

१४६

मुच्छा परिग्रहो वुत्तो ।

१५०

वित्तेण ताण न लभे पमत्ते,
इमम्मि लोए अदुवा परत्था ।

१५१

नत्थि एरिसो पासो पडिबधो अत्थि,
सव्व जीवाणं सव्वलोए ।

१५२

इच्छा हु आगास समा अणंतिया ।

१५३

धणधन्न पेसवग्गेसु, परिग्रहविवज्जणं ।
सव्वारभपरिच्चाओ, निम्ममत्त सुदुक्कर ॥

१५४

वहुपि लद्धु न निहे,
परिग्रहाओ अप्पाण अवसव्विकज्जा ।

१५५

जया निव्विदए भोए, जे दिव्वे जे य माणुसे ।
तया चयइ सजोग, सव्विभतर - वाहिरं ॥

१४६ दश० ६।२०

१५२ उत्त० ६।४८

१५५ दश० ४।१७

१५० उत्त० ४।५

१५३ उत्त० १६।२६

१५१ प्रश्न० १।५

१५४ आचा० १।२।५

अपरिग्रह

१४६

वस्तु के प्रति रहे हुए ममत्व-भाव को परिग्रह कहा है ।

१५०

प्रमत्त पुरुष धन के द्वारा न तो इस लोक में अपनी रक्षा कर सकता है और न परलोक में ही ।

१५१

विश्व के सभी प्राणियों के लिए परिग्रह के समान दूसरा कोई जाल नहीं, बन्धन नहीं ।

१५२

इच्छा आकाश के समान अनन्त है ।

१५३

धन-धान्य, नौकर-चाकर आदि का परिग्रह त्यागना, सर्व हिंसात्मक प्रवृत्तियों को छोड़ना और निरपेक्षभाव से रहना, यह अत्यन्त दुष्कर है ।

१५४

बहुत मिलने पर भी सग्रह न करे । परिग्रह-वृत्ति से अपने को दूर रखे ।

१५५

जब मनुष्य दैविक और मानुषिक (मनुष्य-सम्बन्धी) भोगों से विरक्त हो जाता है तब वह आभ्यन्तर और बाह्य परिग्रह को छोड़ कर आत्म-साधना में जुट जाता है ।

१५६

ज पि वत्थ च पाय वा, कवल पायपुछण ।
ज पि सजम-लज्जट्ठा, धारति परिहरति य ॥

१५७

जे पावकम्मेहिं घण मणूसा,
समाययन्ती अमय गहाय ।
पहाय ते पास पयट्ठिए नरे ।
वेराणुवद्धा नरय उवेति ॥

१५८

जस्सि कुले समुप्पन्ने, जेहिं वा सवसे नरे ।
ममाइ लुप्पई वाले, अन्ने-अन्नेहिं मुच्छिए ॥

१५९

कसिण पि जो इम लोय, पडिपुण्ण दलेज्ज इक्कस्स ।
तेणाऽवि से न सतुस्से, इइ दुप्पूरए इमे आया ॥

१६०

परिग्गहनिविट्ठाण, वेर तेसिं पवड्ढई ।

१६१

विडमुब्भेइम लोण, तेल्ल सप्पि च फाणिय ।
न ते सन्निहिमिच्छन्ति, नायपुत्त-वओरया ॥

१६२

सव्वत्युवहिणा वुद्धा, सरक्खण-परिग्गहे ।
अवि अप्पणो वि देहम्मि, नाऽयरन्ति ममाइय ॥

१५६ दश० ६।१६

१५७ उक्त० ४।२

१५८ सूत्र० १।१।४

१५९ उक्त० ८।१६

१६० सूत्र० १।१।३

१६१ दश० ६।१७

१६२ दश० ६।२१

१५६

जो भी वस्त्र, पात्र, कम्बल और रजोहरण हैं, उन्हें मुनि सयम और लज्जा की रक्षा के लिए ही रखते हैं। किसी समय वे सयम की रक्षा के लिए इनका परित्याग भी करते हैं।

१५७

जो मनुष्य धन को अमृत मानकर अनेक पापकर्मों द्वारा उसका उपार्जन करते हैं, वे धन को छोड़ कर मौत के मुँह में जाने को तैयार हैं, वे वैर से वंधे हुए मर कर नरकवास प्राप्त करते हैं।

१५८

अज्ञानी मनुष्य जिस कुल में उत्पन्न होता है, अथवा जिसके साथ निवास करता है उस में ममत्वभाव रखता हुआ अपने से भिन्न वस्तुओं में इस मूर्च्छा भाव से अन्त में वह बहुत दुःखित होता है।

१५९

यदि धन-धान्य परिपूर्ण यह सारी सृष्टि किसी एक व्यक्ति को दे दी जाय तब भी उसे सतोष होने का नहीं, क्योंकि लोभी आत्मा की तृष्णा दुष्पूर होती है।

१६०

जो परिग्रह-संग्रहवृत्ति में व्यस्त है, वे ससार में अपने प्रति वैर की ही अभिवृद्धि करते हैं।

१६१

जो लोग भगवान् महावीर के वचनों में अनुरक्त हैं, वे मक्खन, नमक, तेल, घृत, गुड आदि किसी वस्तु के संग्रह करने का मन में सकल्प तक नहीं लाते।

१६२

ज्ञानी पुरुष सयम साधक उपकरणों के लेने और रखने में ममत्व-वृत्ति का अवलम्बन नहीं रखते। अधिक तो क्या, अपने शरीर के प्रति भी ममत्व नहीं रखते।

१६३

जे सिया सन्निहीकामे, गिही पव्वडए न से ।

१६४

थोवाहारो थोवभणिओ य, जो होइ थोवनिहो य ।
थोवोवहि-उवगरणो, तस्स हु देवा वि पणमति ॥

१६५

अन्ने हरति त वित्तं, कम्मी कम्मेहिं किच्चती ।

१६६

कामे कमाही, कमिय खु दुक्खं ।

१६७

जे ममाडअ मइ जहाइ, से जहाइ ममाडअ ।

१६८

से हु दिट्ठभए मुणी, जस्स नत्थि ममाइअ ।

१६९

एतदेव एगेसिं महवभय भवइ ।

१७०

तिविहे परिग्गहे पणत्ते, त जहा-
कम्म- परिग्गहे, सरीर- परिग्गहे,
वाहिरभडमत्त — परिग्गहे ।

१७१

लोहस्सेस अणुप्फासो, मन्ने अन्नयरामवि ।

१६३ दश० ६।१८	१६४ आवश्यक-निर्युक्ति	१२६५	१६५ सूत्र० १।१।४
१६६ दश० २।५	१६७ आचा० २।६		१६८. आचा० २।६
१६९ आचा० ५।२	१७०. भग० १८।७		१७१ दश० ६।१८

१६३

जो साधु मर्यादा विरुद्ध कुछ भी संग्रह करना चाहता है, वह साधु नहीं, वल्कि गृहस्थ ही है ।

१६४

जो साधक मिताहारी, मित-भापी, मित-शायी और मित-परिग्रही है, उसे देवता भी नमस्कार करते हैं ।

१६५

सचय किया हुआ धन यथासमय दूसरे उड़ा लेते हैं किंतु संग्रही को अपने पाप कर्मा का दुष्फल भोगना ही पड़ता है ।

१६६

कामनाओं का अन्त करना ही दुःख का अन्त करना है ।

१६७

जो साधक अपनी ममत्वबुद्धि का त्याग कर सकता है, वही परिग्रह का त्याग करने में समर्थ हो सकता है ।

१६८

जिस की चित्तवृत्ति से ममत्वभाव निकल चुका है, वही समार के भय स्थानों को सुन्दर रीति से देख सकता है ।

१६९

परिग्रह ही इस लोक में महाभय का कारण होता है ।

१७०

परिग्रह तीन प्रकार का है — कर्म-परिग्रह, शरीर-परिग्रह, बाह्य-भण्ड-मात्र-उपकरण-परिग्रह ।

१७१

संग्रह करना, यह अन्दर रहनेवाले लोभ की झलक है ।

ज्ञान

१७२

पढम नाण तओ दया ।

१७३

जहा सूई ससुत्ता, पडिआ वि न विणस्सइ ।
तहा जीवे ससुत्ते, ससारे वि न विणस्सइ ।

१७४

जहाऽऽइण्णसमारूढे,
सूरे दढपरक्कमे ।
उभओ णदिघोसेण,
एव हवइ बहुस्सुए ॥

१७५

अलमप्पणो होति अल परेसि ।

१७६

इह भविए वि नाणे, परभविए वि नाणे ।
तट्टुभयभविए वि नाणे ।

१७७

जहा से सहसक्खे, वज्जपाणी पुरदरे ।
सक्के देवाहिवई, एवं हवइ बहुस्सुए ॥

१७८

तम्हा पडिए नो हरिसे, नो कुप्पे ।

१७२ दग० ४।१०

१७३ उत्त० २६।५६

१७४ उत्त० ११।१७

१७५ नूत्र० १।१२।१६

१७६ भग० १।१

१७७ उत्त० ११।२३

१७८ आचा० १।२।३।

ज्ञान

१७२

प्रथम ज्ञान होना चाहिए तत्पश्चात् दया अर्थात् आचरण ।

१७३

जिस प्रकार धागे में पिरोई हुई सुई गिर जाने पर भी गुम नहीं होती है, उसी प्रकार ज्ञानरूप धागे से युक्त आत्मा ससार में कहीं भटकती नहीं, अर्थात् विनाश को प्राप्त नहीं होती ।

१७४

जिस प्रकार उत्तम जाति के अश्व पर चढ़ा हुआ महान् पराक्रमी योद्धा दोनों ओर वजनेवाले बाघों के आघोष से अजेय होता है । उसी प्रकार बहुश्रुत विद्वान् भी परवादियों से (शास्त्रार्थ में) पराजित नहीं होता ।

१७५

ज्ञानी आत्मा ही 'स्व और पर' के कल्याण में समर्थ होती है ।

१७६

ज्ञान का प्रकाश इस जन्म में रहता है, पर जन्म में रहता है और कभी दोनों जन्मों में भी रहता है ।

१७७

जिस प्रकार सहस्रचक्षु, वज्रपाणि और नगरों का विध्वंस करनेवाला शक्र देवों का स्वामी होता है उसी प्रकार बहुश्रुत ज्ञानी दैवी सम्पदा का अधिपति होता है ।

१७८

आत्म-द्रष्टा साधक को ऊँची या नीची किसी भी स्थिति में न हर्षित होना चाहिए और न कुपित ही ।

१७६

नाणस्स सव्वस्स पगासणाए,
अन्नाणमोहस्स विवज्जणाए ।
रागस्स दोसस्स य सखएण,
एगत सोवख समुवेड मोवख ॥

१८०

नाणेण जाणई भावे ।

१८१

विन्नाणेण समागम्म, धम्म साहणमिच्छिय ।

१८२

नच्चा नमइ मेहावी ।

१८३

जहा से तिमिरविद्धसे, उत्तिट्ठन्ते दिवायरे ।
जलन्ते इव तेएण, एव हवइ बहुस्सुए ॥

१८४

जहा से उडुवई चन्दे, नक्खत्त-परिवारिए ।
पडिपुण्णे पुण्णमासीए, एव हवइ बहुस्सुए ॥

१८५

सम्मद्विट्ठस्स सुय सुयणाण,
मिच्छद्विट्ठस्स सुय सुयअन्नाण ।

१८६

नाणसपन्नयाए ण जीवे,
सव्वभावाहिगम जणयइ ।

१७६ उत्त० ३२।२

१८२ उत्त० १।४५

१८५ नदी० ४४

१८० उत्त० २८।३५

१८३ उत्त० ११।२४

१८६ उत्त० २६।५६

१८१ उत्त० २३।३१

१८४ उत्त० ११।२५

१७६

सम्पूर्ण ज्ञान के प्रकाश से, अज्ञान और मोह के त्याग से, राग और द्वेष के क्षय होने से, आत्मा एकान्त सुखमय मोक्ष प्राप्त कर लेता है ।

१८०

जीव ज्ञान से पदार्थों के स्वरूप को जानता है ।

१८१

विज्ञान से यथोचित ज्ञान कर ही धर्म के साधनो-उपकरणों का निर्णय होता है ।

१८२

प्रज्ञाशील ज्ञानोपार्जन कर के विनम्र हो जाता है ।

१८३

जिसप्रकार तिमिर का नाशकरनेवाला उदीयमान सूर्य तेज से जाज्वल्यमान प्रतीत होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत-ज्ञानी तप की प्रभा से उज्ज्वल प्रतीत होता है ।

१८४

जिसप्रकार नक्षत्र परिवार से परिवृत ग्रहपति चन्द्रमा पूर्णिमा को परिपूर्ण होता है, उसी प्रकार सन्त जन के परिवार से परिवृत बहुश्रुत-ज्ञानी समस्त कलाओं में परिपूर्ण होता है ।

१८५

सम्यक्दृष्टि जीव का श्रुत, श्रुतज्ञान है ।

मिथ्यादृष्टि जीव का श्रुत, श्रुत अज्ञान है ।

१८६

ज्ञान की सम्पन्नता से जीव सभी पदार्थ-स्वरूप को जान सकता है ।

१८७

नाणसपसन्ने ण जीवे चाउरन्ते,
ससारकन्तारे न विणस्सड ।

१८८

एगे नाणे

१८९

दुविहे नाणे पण्णत्ते, तजहा-
पच्चक्खे चेव, परोक्खे चेव ।

१९०

सुयस्स आराहणयाएण अन्नाण खवेड ।

१९१

नाणेण विणा न हुति चरणगुणा ।

१९२

जहा सा नईणपवरा, सलिला सागरंगमा ।
सीया नीलवन्तपवहा, एव हवइ बहुस्सुए ॥

१९३

जहा से नगाणपवरे सुमहं मन्दरे गिरी ।
नाणोसहिपज्जलिए, एव हवइ बहुस्सुए ॥

१९४

जहा से सयभूरमणे, उदही अक्खओदए ।
नाणारयणपडिपुण्णे, एवं हवइ बहुस्सुए ॥

१८७

ज्ञान सम्पन्न जीव चार गति-रूप ससार अटवी में विनाश को प्राप्त नहीं होता ।

१८८

उपयोग की दृष्टि से ज्ञान एक प्रकार का है ।

१८९

ज्ञान दो प्रकार का कहा है, प्रत्यक्ष और परोक्ष (अवधि, मन पर्यव और केवल ये तीन ज्ञान प्रत्यक्ष हैं तथा मतिज्ञान, श्रुतज्ञान परोक्ष है ।)

१९०

ज्ञान की आराधना करने से जीव अज्ञान का क्षय करता है ।

१९१

ज्ञान के अभाव में चारित्र्य—सयम नहीं होता ।

१९२

जिसप्रकार नीलवान पर्वत से निकल कर सागर में मिलनेवाली शीता नदी अन्य नदियों में श्रेष्ठतम है, उसीप्रकार बहुश्रुत आत्मा सर्व-साधुओं में श्रेष्ठ होता है ।

१९३

जिसप्रकार अनेक औपधियों से दीप्त महान् मन्दराचल पर्वत सर्व पर्वतों में श्रेष्ठ है उसीप्रकार बहुश्रुत-आत्मा सर्व-साधुओं में श्रेष्ठ होता है ।

१९४

जिसप्रकार अगाध जल से परिपूर्ण स्वयम्भूरमण समुद्र अनेक प्रकार के रत्नों से भरा हुआ होता है, उसीप्रकार बहुश्रुत आत्मा अक्षय ज्ञान गुण से परिपूर्ण होता है ।

१६५

सवणे नाणे य विन्नाणे, पच्चक्खाणेय संजमे ।
अण्हये तवे चेव, वोदाणे अकिरिया सिद्धी ॥

१६६

जावन्तऽविज्जा पुरिसा, सव्वे ते दुक्खसंभवा ।

१६७

एव पच्चविहं नाण, दव्वाण य गुणाण य ।
पज्जवाणं च सव्वेसि, नाणं नाणीहि देसिय ॥

१६८

तत्थ पच्चविहं नाणं, सुअं आभिणिवोहिअ ।
ओहिणाण च तइअं, मणणाण च केवल ॥

१६९

सुय दुविहं पण्णत्तं, त जहा- लोइयं लोगुत्तरिय ।

२००

नाणी नो पमायए कयावि ।

२०१

मेहाविणो लोभ- भयावतीता ।

२०२

खिप्पं न सक्केइ विवेगमेउं ।

२०३

दोहि ठाणेहि जीवे ससारकतार वीइवएज्जा ।
त जहा - विज्जाए चेव, चरणेण चेव ॥

३

१६५ नग० २।५

१६६ उत्त० ६।१

१६७ उत्त० २८।५ ।

१६८ उत्त० २८।४

१६९ अनु० १४५

२०० आचा० ३।३ ।

२०१- मूत्र० १२।१५

२०२ उत्त० ४।१०

२०३ त्या० २।१ ।

१९५

धर्मश्रवण से तत्त्व-ज्ञान, तत्त्व-ज्ञान से विज्ञान, विज्ञान से प्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान से सयम, सयम से अनाश्रव, अनाश्रव से तप, तप से निर्जरा, निर्जरा से निष्कर्मता और निष्कर्मता से सिद्धि प्राप्त होती है ।

१९६

जितने अविद्यावान् पुरुष हैं वे सब अनेकानेक दुःख उत्पन्न करनेवाले हैं ।

१९७

सर्वद्रव्य, सर्वगुण और सर्वपर्यायो का स्वरूप जानने के लिए ज्ञानियो ने पाँच प्रकार का ज्ञान बतलाया है ।

१९८

ज्ञान पाँच प्रकार का है—श्रुतज्ञान, आभिनिवोधिक ज्ञान [मतिज्ञान] अवधिज्ञान, मन पर्यव ज्ञान और केवलज्ञान ।

१९९

ज्ञान दो प्रकार का कहा है—लौकिक—रामायण आदि और लोकोत्तर-आचाराङ्ग (आगम) आदि ।

२००

ज्ञानी आत्मा को किसी भी परिस्थिति में प्रमाद नहीं करना चाहिए ।

२०१

ज्ञानी लोभ और भय से सदा मुक्त होते हैं ।

२०२

विवेक [ज्ञान] शीघ्र प्राप्त नहीं होता ।

२०३

दो स्थानों से जीव ससाररूप वन को पार करता है—विद्या [ज्ञान] से और चारित्र्य से ।

श्रद्धा

२०४

सद्धा परमदुल्लहा ।

२०५

अदक्खु, व दक्खुवाहिय सद्दहसु ।

२०६

ससय खलु सो कुणइ, जो मग्गे कुणइ घर ।

२०७

सद्धा खम णे विणइत्तु राग ।

२०८

वित्तिगिच्छासमावन्नेण अप्पाणेण नो लहई समाहि ।

२०९

जाए सद्धाए णिक्खतो, तमेव-
अणुपालिया, वियहित्तु विसोत्तिय ।

२१०

सुई च लद्ध सद्ध च, वीरिय पुण दुल्लह ।
वह्वे रोयमाणा वि, णो य ण पडिवज्जई ॥

२११

धम्मसद्धाएण सायासोक्खेसु
रज्जमाणे विरज्जइ ।

२१२

सद्दहणा पुणरावि दुल्लहा ।

२०४. उक्त० ३।६

२०५ सूत्र० २।३।११

२०६. उक्त० ६।२६

२०७ उक्त० १४।२८

२०८ आचा० १।५।५

२०९ आचा० १।३।२०

२१०. उक्त० ३।१०

२११. उक्त० २६।३

२१२ उक्त० १०।१६

श्रद्धा

२०४

धर्म-तत्त्व में श्रद्धा होना अत्यन्त दुर्लभ है ।

२०५

नहीं देखने वालों । तुम देखनेवालों की बात पर विश्वास करते हुए चलो ।

२०६

साधना में वही व्यक्ति सशय करता है जो कि मार्ग में ही रुक जाना चाहता है ।

२०७

धर्म-श्रद्धा हमें रागासक्ति से मुक्त कर सकती है ।

२०८

शकाशील व्यक्ति को कभी समाधि—शान्ति नहीं मिलती ।

२०९

जिस श्रद्धा से दीक्षा धारण की है उसी श्रद्धा के साथ शकादि घातक दुर्गुणों को छोड़ कर साधुजीवन की सम्यक् परिपालना करनी चाहिए ।

२१०

श्रुति और श्रद्धा प्राप्त होने पर भी सयम मार्ग में वीर्य-पुरुषार्थ होना अत्यन्त कठिन है । बहुत से लोग श्रद्धासम्पन्न होते हुए भी सयममार्ग में प्रवृत्त नहीं होते ।

२११

धर्म श्रद्धा से वैषयिक सुखों की आसक्ति छोड़ कर यह जीव वैराग्य को प्राप्त कर लेता है ।

२१२

उत्तम धर्म को सुन लेने के बाद भी, उस पर श्रद्धा होना और भी दुर्लभ है ।



तप

२१३

सउणी जह पसुगुडिया, विहुणिय धसयइ सिय रय ।
एव दविओवहाणव कम्म खवड तवस्सि माहणे ॥

२१४

एगमप्पाण सपेहाए धुणे सरीरग ।

२१५

खवेत्ता पुव्वकम्माइ, सजमेण तवेण य ।
सव्वदुक्खपहीणट्ठा, पक्कमति महेसिणो ॥

२१६

तवनारायजुत्तेण, भित्तूण कम्मकचुय ।

२१७

देहदुक्ख महाफल ।

२१८

भव कोडिय सचिय कम्म, तवसा णिज्जरिज्जड ।

२१९

वल थाम च पेहाए, सद्धामारोग्गमप्पणो ।
खेत्त कालं च विन्नाय, तहप्पाण, निजुजए ॥

२२०

नो पूयण तवसा आवहेज्जा ।

२१३ सूत्र० २।१।१५

२१६. उत्त० ६।२२

२१९ दश० ८।३५

२१४. आचा० १।४।२

२१७ दश० ८।२७

२२० सूत्र० १।७।२७

२१५ उत्त० २८।३६

२१८ उत्त० ३०।६

तप

२१३

जिस प्रकार शकुनी नामका पक्षी अपने परो को फड़-फड़ा कर उन पर लगी हुई धूल को झाड़ देता है उसी प्रकार तपस्या के द्वारा मुमुक्षु अपने आत्म-प्रदेशो पर लगी हुई कर्मरज को दूर कर देता है ।

२१४

आत्मा को शरीर से विलग जान कर भोग-लिप्त शरीर को तपश्चर्या के द्वारा धुन डालना चाहिए ।

२१५

समस्त दुखो से मुक्ति चाहनेवाले महर्षि सयम और तप के द्वारा अपने पूर्वसंचित कर्मों का क्षय कर परम सिद्धि को प्राप्त करते हैं ।

२१६

तप रूपी लोह वाण से युक्त धनुष के द्वारा कर्मरूपी कवच को भेद डालें ।

२१७

देह का दमन एक तप है और वह महान् फलवाला है ।

२१८

करोड़ो-भवो के संचित कर्म तपश्चर्या के द्वारा निजीर्ण-नष्ट हो जाते हैं ।

२१९

अपने बल, पराक्रम, श्रद्धा और आरोग्य को देखकर क्षेत्र और काल को पहचान कर शक्ति के अनुसार अपनी आत्मा को तप आदि के अनुष्ठान में नियुक्त करे ।

२२०

तप के द्वारा साधक को पूजा—प्रतिष्ठा की अभिलाषा नहीं करनी चाहिए ।

२२१

असिधारागमण चेव, दुक्कर चरिउ तवो ।

२२२

छन्द निरोहेण उवेइ मोक्ख ।

२२३

सक्ख खु दीसइ तवो विसेसो,
न दीसई जाइविसेस कोई ।

२२४

कसेहि अप्पाण, जरेहि अप्पाण ।

२२५

अण्हये तवे चेव ।

२२६

सो तवो दुविहो वुत्तो, वाहिरब्भन्तरो तहा ।
वाहिरो छव्विहो वुत्तो, एवमब्भन्तरो तवो ॥

२२७

अणसणमूणोयरिया, भिक्खायरिया रसपरिच्चाओ ।
कायकिलेसो सलीणया य, वज्झो तवो होइ ॥

२२८

पायच्छित्त विणओ, वेयावच्च तहेव सज्झाओ ।
ज्ञाण च विउस्सग्गो, एसो अब्भिन्तरो तवो ॥

२२९

तवेण परिसुज्झई ।

२३०

तवेण वोदाण जणयई ।

२२१ उत्त० १६।३७

२२४. आचा० १।४।३।५

२२७ ३०।८

२३०. उत्त० २६।२७

२२२. उत्त० ४।८

२२५. भग० २।५

२२८ उत्त० ३०।३०

२२३ उत्त० १२।३७

२२६ उत्त० ३०।७

२२९. उत्त० २८।३५

२२१

तप का आचरण करना तलवार की धार पर चलने के समान दुष्कर है।

२२२

इच्छानिरोध-तप से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

२२३

तप की महिमा तो प्रत्यक्ष में दिखलाई देती है, किन्तु जाति की महिमा तो कोई नजर नहीं आती हैं।

२२४

तप के द्वारा अपने को कृश करो, अपने को जीर्ण करो, भोग-वृत्ति को जर्जर करो।

२२५

तप से पूर्व-बद्ध कर्मों का नाश करो।

२२६

तप दो प्रकार का बतलाया है—बाह्य और आभ्यन्तर। बाह्य तप छ प्रकार का कहा है, इसी प्रकार आभ्यन्तर तप भी छ प्रकार का है।

२२७

अनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचरी, रसपरित्याग, काय-क्लेश और प्रति सलीनता ये बाह्य तप के छ भेद हैं।

२२८

प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और कायोत्सर्ग—ये आभ्यन्तर तप के छ भेद हैं।

२२९

तप से आत्मा का शुद्धिकरण होता है।

२३०

तप से व्यवदान—पूर्व-कर्मों का क्षय कर आत्माशुद्धि प्राप्त करता है।

भावना

२३१

भावणाजोगसुद्धप्पा, जले नावा व आहिया ।
नावा वि तीरसम्पन्ना, सव्वदुक्खा तिउट्टई ॥

२३२

तहि तहि मुयक्खाय, से य सच्चे सुआहिए ।
सया सच्चेण सम्पन्ने, मेत्ति भूएहि कप्पए ॥

२३३

जम्म दुक्ख जरा दुक्ख, रोगाय मरणाणि य ।
अहो दुक्खो हु ससारो, जत्थ कीसन्ति जन्तवो ॥

२३४

इम सरीर अणिच्च, असुई असुइसभव ।
असासयावासमिण, दुक्खकेसाणभायण ॥

२३५

दाराणि य सुया चेव, मित्ता य तह वन्धवा ।
जीवन्तमणुजीवन्ति, मय नाणुव्वयन्ति य ॥

२३६

सव्व जग जड तुह, सव्व वावि धण भवे ।
मव्व पि ते अपज्जत्त नेव ताणाय त तव ॥

२३१ सूत्र० १।१।५।६

२३४ उक्त० १।६।१२

२३२. सूत्र० १।१।५।३

२३५ उक्त० १।८।१४

२३३. उक्त० १।६।१५

२३६ उक्त० १।४।३६

भावना

२३१

जिस साधक की अन्तरात्मा भावनायोग से विशुद्ध होती है, वह जल में नौका के समान ससार सागर से तिर कर सर्व दुखों से मुक्त बन, परम सुख को प्राप्त करता है ।

२३२

वीतराग प्रभु ने जो-जो भाव कहे हैं वे वास्तव में यथार्थ हैं । जिसका अन्तरात्मा सदा सत्य भावों से ओतप्रोत है वह समस्त जीवों के प्रति मैत्री-भाव रखता है ।

२३३

जन्म दुख है, बुढ़ापा दुख है, रोग दुख है, और मृत्यु दुख है । अहो ! यह ससार ही दुखमय है, जिस में जीव अनेकानेक क्लेश पा रहे हैं ।

२३४

यह शरीर अनित्य है, और अशुचि है । अशुचि से ही इस की उत्पत्ति हुई है । आत्मा का यह अशाश्वत-आवास-गृह है । तथा दुख और क्लेशों का भाजन है ।

२३५

स्त्री, पुत्र, मित्र और बान्धव सब जीवित व्यक्ति के साथी हैं, मरने पर कोई भी साथ नहीं निभाता ।

२३६

यदि समस्त ससार तुम्हें प्राप्त हो जाय अथवा समूचा धन तुम्हारा हो जाय तब भी तुम्हारी इच्छापूर्ति के लिए वह अपर्याप्त ही होगा, और वह तुम्हें शरण भी नहीं दे सकेगा ।

२३७

गढभाइ मिज्जति बुयाबुयाणा,
णरा परे पचसिहा कुमारा ।
जुवाणगा मज्झिम-थेरगा य,
चयति ते आउक्खए पलीणा ॥

२३८

अढभागमियम्मि वा दुहे, अहवा उक्कमिए भवन्तिए ।
एगस्स गई य आगई, विदुमन्ता सरण न मन्नई ॥

२३९

जहा गेहे पलित्तम्मि, तस्स गेहस्स जो पहू ।
सारभण्डाणि नीणेइ, असार अवउज्झइ ॥
एव लोए पलित्तम्मि, जराए मरणेण य ।
अप्पाण तारइस्सामि, तुब्भेहि अणुमन्निओ ।

२४०

अच्चेइ कालो तूरन्ति राइओ,
न यावि भोगा पुरिसाण निच्चा ।
उविच्च भोगा पुरिस चयन्ति,
दुम जहा खीणफल व पक्खी ॥

२४१

तिउईट्ट उ मेहावी, जाण लोगसि पावग ।
तुट्ठति पावकम्माणि, नव कम्ममकुव्वओ ॥

२४२

वित्त पसवो व नाइओ, त वाले सरण ति मन्नई ।
एए मम तेसु वि अह नो ताण सरण न विज्जई ॥

२३७

कितने ही प्राणी गर्भावस्था में, कितने ही दूध पीते शिशु अवस्था में, तो कितने ही पच-शिख कुमारों की अवस्था में मृत्यु को प्राप्त होते हैं। फिर कितने ही युवा, प्रौढ़ और वृद्ध होकर मरते हैं। इस प्रकार आयुष्य क्षय होने पर जीव अपना देह छोड़ देता है।

२३८

कष्ट आने पर जीव को अकेला ही भोगना पड़ता है, अथवा आयुष्य-क्षय होने से पर-भव में अकेला ही जाना होता है, अतः विवेकी पुरुष स्वजन सम्बन्धी को शरणरूप नहीं समझता।

२३९

जैसे घर में आग लग जाने पर गृहपति मूल्यवान् वस्तुओं को निकाल लेता है और मूल्यहीन वस्तुओं को छोड़ देता है। उसी प्रकार मैं भी आप की आज्ञा प्राप्त कर जरा और मृत्यु की अग्नि से प्रज्वलित इस ससार में अपनी आत्मा का उद्धार करूँगा।

२४०

जीवन व्यतीत हो रहा है, रात्रियाँ दौड़ी जा रही हैं, मनुष्य के तुच्छ भोग भी अशाश्वत हैं। जैसे पक्षी क्षीण फलवाले वृक्ष को छोड़ कर चले जाते हैं, उसी तरह काम-भोग मनुष्य को छोड़ देते हैं।

२४१

पाप कर्म के स्वरूप को जाननेवाला मेधावी पुरुष ससार में रहता हुआ भी पाप से मुक्त हो जाता है। जो पुरुष नवीन कर्मों का उपार्जन नहीं करता उसके सभी पाप कर्म मुक्त हो जाते हैं।

२४२

अज्ञानी मनुष्य ऐसा मानता है कि धन, पशु और जातिवाले मेरा रक्षण करेंगे। वे “मेरे हैं” “मैं उनका हूँ” परन्तु इस प्रकार उन्हें अन्त में त्राण तथा शरण देनेवाला कोई नहीं मिलता।

२४३

जहेह सीहो व मिय गहाय,
मच्चू नर नेइ हु अतकाले ।
न तस्स माया व पिया व भाया,
कालम्मि तम्मिस्सहारा भवंति ॥

२४४

संसारमावन्न परस्स अट्ठा,
साहारण ज च करेइ कम्म ।
कम्मस्स ते तस्स उ वेयकाले,
न बधवा बधवय उवेन्ति ॥

२४५

वेया अहीया न भवति ताण,
भुत्ता दिया निति तम तमेण ।
जाया य पुत्ता न हवति ताण,
को नाम ते अणुमन्नेज्ज एयं ॥

२४६

चिच्चा दुपय च चउप्पय च,
खेत्त गिह धण-धन्न च सव्व ।
अम्मप्पवीओ अवसो पयाइ,
पर भव सुन्दर-पावगं वा ॥

२४७

भावसच्च्वेण भावविसोहि जणयई ।

२४८

भावविसोहीए वट्टमाणे जीवे अरहन्त-
पन्नत्तस्स धम्मस्स आराहणयाए अब्भट्ठे ड ।

२४३

जिस प्रकार सिंह हरिण को पकड़ कर ले जाता है उसी प्रकार अन्त-काल में मृत्यु भी मनुष्य को ले जाती है। उस समय माता-पिता व भाई आदि कोई भी अपने जीवन का भाग दे कर उन्हें बचा नहीं सकते।

२४४

ससारी प्राणी अपने प्रिय-बन्धुजनो के लिए बुरे से बुरे कर्म भी कर डालता है, किन्तु जब उस कर्म का दुष्फल भोगने का समय आता है, तब वह अकेला ही भोगता है, उस समय वे बन्धु-जन बन्धुता नहीं दिखाते, उस का भाग नहीं बँटाते।

२४५

पढ़े हुए वेद तुम्हारा सरक्षण नहीं कर सकते, भोजन कराये हुए द्विज भी अन्धकार में ले जाते हैं, तथा पुत्र भी रक्षा नहीं कर सकते ऐसी स्थिति में कौन विवेकशील पुरुष इन्हे स्वीकार करेगा ?

२४६

ये पराधीन आत्मा द्विपद-दास-दासी, चतुष्पद-घोडा-हाथी, खेत, घर, धन-धान्य आदि सब कुछ छोड़ कर केवल अपने किये कर्मों को साथ लेकर अच्छे या बुरे परमव (जन्म) में चला जाता है।

२४७

भाव सत्य से आत्मा भाव-विशुद्धि को प्राप्त करता है।

२४८

भाव-विशुद्धि में वर्तमान जीव अर्हत्-प्ररूपित धर्म की आराधना के लिये समुद्यत होता है।

२४६

खेत्त वत्थु हिरण्ण च, पुत्तदारं च वन्धवा ।
चइत्ता ण इम देह, गन्तव्वमवसस्स मे ॥

२५०

वित्त सोयरिया चेव, सव्वमेयं न ताणइ ।

२४६

मनुष्य को हमेशा यह चिन्तन करना चाहिए कि भूमि, घर, सोना, पुत्र, स्त्री, बान्धव और इस शरीर आदि सभी को छोड़ कर मुझे एक दिन अवश्य जाना पड़ेगा ।

२५०

धन, धान्य, कुटुम्ब, सम्बन्धी आदि कोई भी जीवात्मा को ससार परिभ्रमण से बचा नहीं सकते ।



साधना

२५१

जं मे तव-नियम-सजम-सज्जाय-ज्ञाणाऽवस्सय-
मादीएसु जोगेसु जयणा, से त्त जत्ता ।

२५२

वाहाहि सागरो चेव, तरियव्वो गुणोदही ।

२५३

अहीवेगन्तदिट्ठीए, चरित्ते पुत्त ! दुच्चरे ।

२५४

जवा लोहमया चेव, चावेयव्वा सुदुक्कर ।

२५५

ज्ञाणजोग समाहट्ठु, काय विउसेज्ज सव्वसो ।

२५६

अणुवओगो दव्व ।

२५१. भग० १८।१०

२५४ उत्त० १९।३९

२५२. उत्त० १९।३७

२५५. सूत्र० १।८।२६

२५३ उत्त० १९।३९

२५६. अनु० १३

साधना

२५१

तप नियम, सयम, स्वाध्याय, ध्यान, आवश्यक आदि में जो यतना-पूर्वक प्रवृत्ति है, वही मेरी वास्तविक यात्रा—साधना है ।

२५२

जैसे भुजाओं से सागर तैरना कठिन है वैसे ही सद्गुणों की साधना का कार्य कठिन है ।

२५३

सर्प जैसे एकाग्र-दृष्टि से चलता है वैसे एकाग्र-दृष्टि से चारित्र्य धर्म का पालन करना बहुत ही कठिन कार्य है ।

२५४

जैसे लोहे के जवों को चवाना कठिन है वैसे ही सयम-साधना का पालन भी कठिन है ।

२५५

मेधावी पुरुष ध्यान योग को स्वीकार करे और देह भावना का सर्वथा विसर्जन करे ।

२५६

उपयोग (विवेक) शून्य साधना केवल द्रव्य है, भाव नहीं ।



समभाव

२५७

सव्व जग तू समयाणुपेही,
पियमप्पिय कस्स वि नो करेज्जा ।

२५८

जहा पुण्णस्स कत्थइ, तहा तुच्छस्स कत्थइ ।
जहा तुच्छस्स कत्थई, तहा पुण्णस्स कत्थइ ॥

२५९

सामाइयमाहु तस्स ज,
जो अप्पाण भए ण दसए ।

२६०

लाभुत्ति न मज्जिज्जा, अलाभुत्ति न सोइज्जा ।

२६१

जोविय नाभिकखिज्जा, मरण नो वि पत्थए ।
दुहओ वि न सज्जेज्जा, जीविए मरणे तहा ॥

२६२

नो उच्चावय मण नियछिज्जा ।

२६३

वियाणिया अप्पगमप्पएण,
जो रागदोसेहिं समो स पुज्जो ।

२६४

समय सया चरे ।

२६५

समता सव्वत्थ सुव्वए ।

२५७ सूत्र० १।१०।६	२५८ आचा० १।२।६	२५९ सूत्र० १।२।२।१७
२६०. आचा० १।२।५	२६१. आचा० १।८।८।४	२६२. आचा० २।३।१
२६३ दश० ६।३।११	२६४ सूत्र० २।२।३	२६५ सूत्र० २।३।१३

समभाव

२५७

जो साधक सम्पूर्ण विश्व को समभाव से देखता है, वह न किसी का प्रिय करता है, और न किसी का अप्रिय ही ।

२५८

धर्मोपदेष्टा जिस प्रकार पुण्यवान्-धनवान् को उपदेश देता है उसी प्रकार तुच्छ-दीन, दरिद्र को भी उपदेश देता है और जिस प्रकार तुच्छ को उपदेश देता है उसीप्रकार पुण्यवान् को भी ।

२५९

समभाव वही साधक रख सकता है जो अपने आप को हर किसी भय से विलग रखता है ।

२६०

साधक मिलने पर गर्व न करे और न मिलने पर शोक न करे ।

२६१

सलेखना में स्थित साधक न जीने की अभिलाषा करे और न मरने की कामना करे । वह जीवन और मरण किसी में भी आसक्त न होता हुआ समभाव में रहे ।

२६२

सकट की घड़ियों में भी मन को ऊँचा-नीचा अर्थात् डाँवा-डोल नहीं होने देना चाहिए ।

२६३

जो साधक आत्मा को आत्मा से जानकर राग-द्वेष के प्रसंगों में सम रहता है, वही पूज्य है ।

२६४

साधक को सदा समता का आचरण करना चाहिए ।

२६५

सुव्रती को सर्वत्र समता-भाव रखना चाहिए ।

सम्यग्दर्शन

२६६

सम्मदसणरत्ता अनियाणा सुक्कलेसमोगाढा ।
इय जे मरंति जीवा, तेसिं सुलहा भवे वोही ॥

२६७

इओ विद्ध समाणस्स, पुणो सवोहि दुल्लहा ।

२६८

सम्मत्तदसी ण करेई पाव ।

२६९

निस्सग्गुवएसरूई, आणारूई सुत्तवीअरूडमेव ।
अभिगम-वित्थाररूई, किरिया-सखेव-धम्मरूई ॥

२७०

निस्सकिया-निक्कखियनिव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी य ।
उववूह-थिरीकरणे, वच्छल्ल-पभावणे अट्ठ ॥

२७१

नादसणिस्स नाण,
नाणेण विणा न हुन्ति चरणगुणा ।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो,
नत्थि अमोक्खस्स निव्वाण ॥

२६६. उत्त० ३६।२५८

२६७ सूत्र० १।१५।१८

२६८ आचा० ३।२

२६९ उत्त० २८।१६

२७० उत्त० २८।३१

२७१ उत्त० २८।३०

सम्यग्दर्शन

२६६

जो जीव सम्यग्दर्शन में अनुरक्त है, सासारिक फल की कामना से रहित है तथा शुक्ललेश्या में प्रवर्तमान है, वे जीव उसी भावना में मरकर परलोक में सुलभबोधि होते हैं ।

२६७

जो जीव सम्यक्त्व से पतित होकर मरता है उसे पुन धर्म-बोधि प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ है ।

२६८

सम्यक्त्वधारी साधक पाप-कर्म नहीं करता ।

२६९

जीव को दस प्रकार से सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है—निसर्ग-रुचि, उपदेश-रुचि, आज्ञा-रुचि, सूत्र-रुचि, बीज-रुचि अभिगम-रुचि विस्तार-रुचि, क्रिया-रुचि, सक्षेप-रुचि और धर्म-रुचि ।

२७०

सम्यक्त्व के आठ अंग इस प्रकार हैं—

नि शका, निष्काक्षा, निर्विचिकित्सा, अमूढ-दृष्टि, उपवृ हण (सम्यक् दर्शन की पुष्टि) स्थिरीकरण, वात्सल्य और प्रभावना ।

२७१

सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान नहीं होता, ज्ञान के बिना चारित्र्य के गुण नहीं होते, गुणों के बिना मुक्ति नहीं होती और मुक्ति के बिना निर्वाण—शाश्वत आत्मानन्द प्राप्त नहीं होता ।

२७२

नत्थि चरित्त सम्मत्तविहूण ।

२७३

सम्मग्ग तु जिणक्खाय, एस मग्गे हि उत्तमे ।

२७४

दिट्ठीए दिट्ठिसपन्ने धम्म चर सुदुच्चर ।

२७५

दसणसपन्नयाए ण भवमिच्छत्त-
 छेयण करेइ, परं न विज्झायइ ।
 अणुत्तरेण नाणदसणेण अप्पाण,
 सजोएमाणे सम्म भावेमाणे विहरइ ॥

२७६

जे अबुद्धा महाभागा, वीरा असम्मत्तदसिणो ।
 असुद्ध तेसि परक्कत, सफल होइ सव्वसो ॥

२७७

जे य बुद्धा महाभागा, वीरा सम्मत्तदसिणो ।
 सुद्ध तेसि परक्कत, अफल होइ सव्वसो ॥

२७८

बुज्झमाणण पाणिण, किच्चताण सकम्मुणा ।
 आघाति साहु त दीव, पत्तिट्ठे सा पवुच्चइ ॥

२७२. उत्त० २८।२६

२७३ उत्त० २३।६३

२७४ १८।३३

२७५ उत्त० २६।६०

२७६ सूत्र० १।८।२२

२७७ सूत्र० १।८।२३

२७८ सूत्र० ११।२३

२७२

सम्यक्त्व के अभाव में चारित्र-गुण की प्राप्ति नहीं होती ।

२७३

जो राग-द्वेष को जीतनेवाले हैं, जिन ने जो कहा है वही सर्वोत्तम मार्ग है, ऐसा जिसका अटन विश्वास है वही सम्यक् श्रद्धावान् है ।

२७४

सम्यग्दृष्टि के द्वारा दृष्टिसम्पन्न होकर साधक सुदुश्चर धर्म का आचरण करे ।

२७५

दर्शन सम्पन्नता से यह जीव क्षायिक सम्यग्दर्शन को प्राप्त करता है, जो ससार के हेतुभूत मिथ्यात्व का उच्छेद कर देनेवाला है । उससे आगे उसकी प्रकाश शिखा वृद्ध होती नहीं, वह उत्तरोत्तर ज्ञान और दर्शन को आत्मा से संयोजित करता है, तथा उन्हें सम्यक् प्रकार से आत्म-सात् करता हुआ विचरण करता है ।

२७६

सम्यग्दर्शन से रहित परमार्थ को न जाननेवाले ऐसे विश्रुत यशस्वी वीर पुरुषों का पराक्रम अशुद्ध है, वे सभी तरह से ससार की वृद्धि करने में सफल होते हैं ।

२७७

सम्यग्दर्शन से सम्पन्न तथा परमार्थ के ज्ञाता ऐसे विश्रुत यशस्वी वीर पुरुषों का पराक्रम शुद्ध है । वे दुःख रूप ससार की वृद्धि में सर्वथा निष्फल रहते हैं ।

२७८

मिथ्यात्वादि के प्रवाह में बहते हुए तथा अपने पाप कर्मों के द्वारा कष्ट पाते हुए प्राणियों के लिए सम्यग्दर्शन द्वीप के समान विश्राम स्थल है । तत्त्वज्ञों का कथन है कि सम्यग्दर्शन से ही मोक्ष प्राप्त होता है ।

वीतराग-भाव

२७६

एविदियत्था य मणस्स अत्था,
दुक्खस्स हेउ मणुयस्सरागिणो ।
ते चेव थोव पि कयाइ दुक्ख,
न वीयरागस्स करेति किञ्चि ॥

२८०

समो य जो तेसु स वीयरागो ।

२८१

न लिप्पई भवमज्झे वि सत्तो,
जलेण वा पोक्खरिणीपलास ।

२८२

समाहियस्सग्गिसिहा व तेयसा,
तवो य पन्ना य जस्सो य वड्ढइ ।

२८३

अणुक्कसे अप्पलीणे, मज्झेण मणि जावए ।

२८४

वीयरागयाए ण नेहाणुबधणाणि,
तण्हाणुबधणाणि य वोच्छिदई ।

२८५

विमुत्ता हु ते जणा, जे जणा पारगमिणो ।

२७६ उक्त० ३२।१०० २८०. उक्त० ३२।६१ २८१ उक्त० ३२।४७
२८२ आचा० २।४।१६।१४० २८३ सूत्र० १।१।४।२ २८४ उक्त० २६।४५
२८५ आचा० १।२।२

वीतराग-भाव

२७६

इन्द्रिय और मन के विषय रागात्मक-मनुष्य के लिए ही दुःख के हेतु बनते हैं, वीतराग के लिए वे किञ्चित् भी दुःखदायी नहीं बन सकते।

२८०

जो मनोज्ञ और अमनोज्ञ रसों में समान रहता है। वह वीतराग होता है।

२८१

जो आत्मा विषयो से निरपेक्ष है वह ससार में रहता हुआ भी जल में कमलिनी पत्र के समान अलिप्त रहता है।

२८२

अग्नि-शिखा की तरह प्रदीप्त एवं ज्योतिर्मय रहनेवाले अन्तर्द्रष्टा साधक के तप, प्रज्ञा और यश-निरन्तर अभिवृद्धि प्राप्त करते रहते हैं।

२८३

अहंकार रहित एवं अनासक्तियोग से मुनि को राग-द्वेष के प्रसंग उपस्थित होने पर मध्यस्थ यात्रा करनी चाहिए।

२८४

वीतराग-भाव से स्नेह के अनुबन्धनों और तृष्णा के अनुबन्धनों का विच्छेद हो जाता है।

२८५

जो साधक कामनाओं पर विजय पा गये हैं वे वस्तुतः मुक्त पुरुष हैं।

२८६

अणोमदसी निसण्णे पावेहिं कम्मेहिं ।

२८७

किमत्थि उवाही पासगस्स न विज्जइ ?—नत्थि ।

२८८

से हु चक्खू मणुस्साण, जे कखाए य अन्तए ।

२८९

कामी कामे न कामए, लद्धे वावि अलद्धं कण्हुई ।

२९०

सोयस्स सद्द गहण वयत्ति, त राग हेउ तु मणुन्नमाहु ।
त दोस हेउ अमणुन्नमाहु, समो य जो तेसु स वीयरगो ॥

२९१

चक्खुस्स रूव गहण वयत्ति, त राग हेउ तु मणुन्नमाहु ।
त दोस हेउ अमणुन्नमाहु, समो य जो तेसु स वीयरगो ।

२९२

घाणस्स गघ गहण वयत्ति, त राग हेउ तु मणुन्नमाहु ।
त दोस हेउ अमणुन्नमाहु, समो य जो तेसु स वीयरगो ॥

२९३

जिब्भाए रस गहण वयत्ति, त राग हेउ तु मणुन्नमाहु ।
त दोस हेउ अमणुन्नमाहु, समो य जो तेसु स वीयरगो ॥

२८६ आचा० १।३।२

२८७ आचा० १।३।४

२८८ सूत्र० १।१५।१४

२८९ सूत्र० १।२।३।६

२९० उक्त० ३।२।३५

२९१ उक्त० ३।२।२२

२९२ उक्त० ३।२।४८

२९३ उक्त० ३।२।६१

२८६

पावन दृष्टिवाला साधक पाप कर्म से विलग रहता है ।

२८७

वीतराग सत्य द्रष्टा के लिए कोई उपाधि होती है या नहीं ? नहीं होती है ।

२८८

जिस साधक ने अभिलाषा-आसक्ति को नष्ट कर दिया है, वह मनुष्यो के लिए मार्ग-दर्शक चक्षु रूप है ।

२८९

साधक सुखामिलाषी बन काम-भोगो की कामना न करे, और प्राप्य भोगो के प्रति भी अप्राप्य-निस्पृह भाव रखे ।

२९०

श्रोत्र का विषय शब्द है । जो शब्द राग का हेतु होता है, उसे मनोज्ञ कहा जाता है और जो द्वेष का हेतु होता है उसे अमनोज्ञ कहा जाता है । जो मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्दों में समदृष्टि रखता है वही वीतराग होता है ।

२९१

चक्षु का विषय रूप है । जो रूप राग का हेतु होता है उसे मनोज्ञ कहा जाता है और जो द्वेष का हेतु होता है उसे अमनोज्ञ कहा है । जो मनोज्ञ-अमनोज्ञ रूपों में समान रहता है वही वीतराग होता है ।

२९२

घ्राणेन्द्रिय का विषय गन्ध है । जो गन्ध राग का हेतु होता है, उसे मनोज्ञ कहा जाता है और जो द्वेष का हेतु होता है उसे अमनोज्ञ कहा जाता है । जो मनोज्ञ-अमनोज्ञ दोनों में समदृष्टि रखता है वही वीतराग होता है ।

२९३

रसनेन्द्रिय का विषय रस है । जो रस राग का हेतु होता है उसे मनोज्ञ कहा जाता है और जो द्वेष का हेतु होता है उसे अमनोज्ञ कहा जाता है । जो मनोज्ञ-अमनोज्ञ रसों में समदृष्टि रखता है । वही वीतराग होता है ।

२६४

कायस्स फास गहण वयति,
त राग हेउ तु मणुन्नमाहु ।
त दोस हेउ अमणुन्नमाहु,
समो य जो तेसु स वीयरगो ।

२६५

निम्ममो निरहकारो, वीयरगो अणासवो ।
सपत्ते केवल नाण, सासय परिणिव्वुए ॥

२६६

वीयरगभाव पडिवन्ने वि य ण,
जीवे समसुहुदुक्खे भवइ ।

२६७

अणिहे से पुट्ठे अहियासए ।

२६४

स्पर्शेन्द्रिय का विषय स्पर्श है। जो स्पर्श राग का हेतु होता है उसे मनोज्ञ कहा जाता है, और जो द्वेष का हेतु होता है उसे अमनोज्ञ कहा जाता है। जो मनोज्ञ-अमनोज्ञ स्पर्शों में समदृष्टि रखता है वही वीतराग कहलाता है।

२६५

निर्मम, निरहकार, वीतराग और आश्रयो से रहित निर्ग्रन्थ मुनि, शाश्वत केवलज्ञान को प्राप्त कर परिनिवृत्त हो जाता है अर्थात् पूर्णतया आत्मस्थ हो जाता है।

२६६

वीतराग-भाव को प्राप्त हुआ जीव सुख-दुःख में सम हो जाता है।

२६७

आत्मविद् साधक को निस्पृह होकर आनेवाले कष्टों को सहन करना चाहिए।



लेश्या-स्वरूप

२९८

किण्हा नीला य काऊ य, तेऊ पम्हा तहेव य ।
सुक्कलेसा य छट्ठा, नामाड तु जहक्कम ॥

२९९

किण्हा नीला काऊ, तिन्नि वि एयाओ अहम्मलेसाओ ।
एयाहि तिहि वि जीवो, दुग्गइ उववज्जइ ॥

३००

तेऊ पम्हा सुक्का, तिन्नि वि एयाओ धम्मलेसाओ
एयाहि तिहि वि जीवो, सुग्गइ उववज्जइ ।

३०१

जीमूयनिद्धसकासा, गवलरिट्ठगसन्निभा ।
खजाजणनयणनिभा, किण्हलेसा उ वण्णओ ॥

३०२

नीलासोगसकासा, चासपिच्छसम्पभा ।
वेरुलियनिद्धसकासा, नीललेसा उ वण्णओ ॥

३०३

अयसी पुप्फसंकासा, कोइलच्छदसन्निभा ।
पारेवयगीवनिभा, काऊलेसा उ वण्णओ ॥

३०४

हिगुलधाउ संकासा, तरुणाइच्चसन्निभा ।
सुयतुड पई वनिभा, तेओलेसा उ वण्णओ ॥

३०५

हरियालभेय सकासा, हलिहाभेय सम्पभा ।
साणासणकुसुमनिभा, पम्हलेसा उ वण्णओ ॥

३०६

सखक कुद सकासा, खीरपूरसम्पभा ।
रययहारसकासा, सुक्कलेसा उ वण्णओ ॥

२९८ उत्त० ३४।३

३०१ उत्त० ३४।४

३०४ उत्त० ३४।७

२९९ उत्त० ३४।५६

३०२ उत्त० ३४।५

३०५ उत्त० ३४।८

३०० उत्त० ३४।५७

३०३ उत्त० ३४।६

३०६ उत्त० ३४।९

लेश्या-स्वरूप

२६८

कृष्ण, नील, कापोत, तेज, पद्म और शुक्ल ये छ लेश्याओ के क्रमश नाम हैं ।

२६९

कृष्ण, नील और कापोत ये तीन अधर्म लेश्याएँ हैं । इन तीनों लेश्याओ वाला जीव दुर्गति में उत्पन्न होता है ।

३००

तेज, पद्म और शुक्ल ये तीन धर्म लेश्याएँ हैं । इन तीनों लेश्याओ वाला जीव सद्गति में उत्पन्न होता है ।

३०१

कृष्ण लेश्या का वर्ण जल युक्त मेघ, महिष-शृङ्ग, द्रोण-काक, खजन, अजन और नेत्र तारा के समान कृष्ण होता है ।

३०२

नील लेश्या का वर्ण नील अशोक वृक्ष, चास पक्षी की पख और स्निग्ध वैडूर्यमणि के समान नील होता है ।

३०३

कापोत लेश्या का वर्ण अलसी के पुष्प, कोयल के पख और कवूतर की ग्रीवा के समान कथई होता है ।

३०४

तेजो लेश्या का वर्ण हिंगुल, गेरू, नवोदित सूर्य, तोते की चोच और प्रदीप की लौ के समान रक्त होता है ।

३०५

पद्मलेश्या का वर्ण हरिताल, हलदी के टुकड़े, तथा सण और असन के पुष्प के समान पीला होता है ।

३०६

शुक्ल लेश्या का वर्ण शख, अकमणि, कन्द-पुष्प दुग्धधारा, चाँदी व मुक्तहार के समान श्वेत उज्ज्वल होता है ।

तत्त्व-स्वरूप

३०७

धम्मो अहम्मो आगासं, कालो पुग्गल जतवो ।
एस लोगो त्ति पन्नत्तो, जिणेहि वरदसिहि ॥

३०८

गइलक्खणो उ धम्मो, अहम्मो ठाणलक्खणो ।
भायण सव्वदव्वाण, नह ओगाहलक्खण ॥

३०९

वत्तणालक्खणो कालो, जीवो उवओगलक्खणो ।
नाणेण दसणेण च, सुहेण य दुहेण य ॥

३१०

नाण च दसण चेव, चरित्तं च तवो तहा ।
वीरिय उवओगो य, एय जीवस्स लक्खण ॥

३११

सद्दुधयार-उज्जोओ. पहा छाया ऽ तवे इ वा ।
वण्ण-रस-गध-फासा, पुग्गलाण तु लक्खण ॥

३१२

जीवाऽजीवा य वन्धो य, पुण्ण पावाऽसवो तहा ।
सवरो निज्जरा मोक्खो, सन्तेए तहिया नव ॥

३१३

तहियाणं तु भावाण, सव्भावे उवएसण ।
भावेणं सद्दहन्तस्स, सम्मत्त तं वियाहिय ॥

३०७. उत्त० २८।७

३०८ उत्त० २८।९

३०९. उत्त० २८।१०

३१० उत्त० २८।११

३११ रत्त० २८।१२

३१२ उत्त० २८।१४

३१३ उत्त० २८।१५

तत्त्व-स्वरूप

३०७

केवलदर्शी जिनेन्द्रो ने इस लोक को, धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव-इस प्रकार से पञ्चद्रव्य रूप प्रतिपादन किया है ।

३०८

धर्मद्रव्य गति लक्षण वाला है, जब कि अधर्म द्रव्य स्थिति लक्षण वाला है, और आकाश द्रव्य अवकाश लक्षणवाला है । यह सर्व द्रव्यों के रहने का भाजन है ।

३०९

वर्तना काल का लक्षण है, उपयोग जीव का लक्षण है, वह ज्ञान, दर्शन सुख और दुःख से जाना जाता है ।

३१०

ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य, तप, वीर्य और उपयोग—ये सब जीव के लक्षण हैं ।

३११

शब्द, अन्धकार, उद्योत, प्रभा, छाया, आतप, वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श ये पुद्गल के लक्षण हैं ।

३१२

जीव, अजीव, बन्ध, पुण्य, पाप, आश्रव, सवर, निर्जरा और मोक्ष—ये नौ तथ्य-तत्त्व हैं ।

३१३

जीवादिक तथ्य पदार्थों के अस्तित्व के विषय में जो अन्तःकरण से श्रद्धा करता है उसे सम्यक्त्व होता है, उस अन्तःकरण की श्रद्धा को ही सम्यक्त्व कहा है ।

३१४

नाण च दसण चेव, चरित्त च तवो तहा ।
एयमग्गमणुप्पत्ता, जीवा गच्छन्ति सुग्गइ ॥

३१५

अट्ठ पवयणमायाओ, समिई गुत्ती तहेव य ।
पचेव य समिईओ, तओ गुत्तीओ आहिया ॥

३१६

इरियाभासेसणादाणे, उच्चारे समिई इय ।
मणुगुत्ती वयगुत्ती, कायगुत्ती य अट्ठमा ॥

३१७

एयाओ पच समिईओ, चरणस्स य पवत्तणे ।
गुत्ती नियत्तणे वुत्ता, असुभत्थेसु सव्वसो ॥

३१८

एसा पवयणमाया, जे सम्म आयरे मुणी ।
से खिप्प सव्वससारा, विप्पमुच्चइ पडिए ॥

३१९

अत्थित्त अत्थित्ते परिणमइ,
नत्थित्त नत्थित्ते परिणमइ ।

३२०

अप्पणा चेव उदीरेइ, अप्पणा चेव गरहइ,
अप्पणा चेव सवरइ ।

३१४ उक्त० २८१३

३१५ उक्त० २४११

३१६ उक्त० २४१२

३१७ उक्त० २४१२६

३१८ उक्त० २४१२७

३१९ मग० ११३

३२० मग० ११३

३१४

ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप इस मार्ग को ग्रहण करनेवाले जीव सुगति को प्राप्त होते हैं ।

३१५

पाँच समिति और तीन गुप्ति-ये आठ प्रवचन माताएँ कहलाती हैं ।

३१६

ईर्या-समिति, भापा समिति, एपणा-समिति, आदान-निक्षेपण समिति और उच्चार-समिति-ये पाँच समितियाँ हैं । तथा मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, और कायगुप्ति-ये तीन गुप्तियाँ हैं । इस प्रकार दोनो मिल कर अष्ट प्रवचन-माताएँ हैं ।

३१७

ये पाँच समितियाँ चारित्र की दया आदि प्रवृत्तियों में काम आती हैं और तीन गुप्तियाँ सब प्रकार अशुभ-विषयो से निवृत्त होने में सहायक बनती हैं ।

३१८

जो पण्डितमुनि उक्त अष्ट-प्रवचन माताओं का सम्यक् प्रकार से पालन करता है । वह इस विराट ससार से सदा के लिए शीघ्र ही मुक्त हो जाता है ।

३१९

अस्तित्व, अस्तित्व में परिणत होता है और नास्तित्व-नास्तित्व में परिणत होता है । अर्थात् सत्-सत् के रूप में रहता है और असत् असत् के रूप में ।

३२०

आत्मा अपने द्वारा किये हुए कर्मों की उद्दीरणा स्वयं करता है । अपने द्वारा ही स्वयं उनकी गह्रा-आलोचना करता है । तथा अपने द्वारा ही कर्मों का सवर-आश्रव का निरोध करता है ।

३२१

जीवाण चेयकडा कम्मा कज्जति,
नो अचेयकडा कम्मा कज्जति ।

३२२

अथिरे पलोट्ठइ, नो थिरे पलोट्ठइ ।
अथिरे भज्जइ, नो थिरे भज्जइ ॥

३२३

सरीर सादिय सनिघण ।

३२४

जीवा सिय सासया, सिय असासया ।
“दव्वट्ठयाए सासया, भावट्ठयाए असासया ॥

३२५

जीवा णो वड्ढति, णो हायति, अवट्ठिया ।

३२६

करणओ सा दुक्खा, नो खलु सा अकरणओ दुक्खा ।

३२७

जीवे ताव नियमा जीवे, जीवे वि नियमा जीवे ।

३२८

नो य उप्पज्जए अस ।

३२९

सुरूवा वि पोग्गला, दुरूवत्ताए परिणमति,
दुरूवा वि पोग्गला सुरूवत्ताए परिणमति ।

३२१ भग० १६।२

३२२ भग० १।९

३२३ प्रश्न० १।२

३२४. भग० ७।२

३२५. भग० ५।८

३२६ भग० १।१०

३२७ भग० ६।१०

३२८ सूत्र० १।१।१।१६

३२९ ज्ञाता० १।१२

३२१

आत्माओं के कर्म चेतना-कृत है, अचेतना-कृत नहीं ।

३२२

अस्थिर हमेशा बदलता है, स्थिर कभी नहीं बदलता ।

अस्थिर हमेशा टूट जाता है, स्थिर कभी नहीं टूटता ।

३२३

शरीर का आदि भी है और अन्त भी है ।

३२४

जीव शाश्वत भी है और अशाश्वत भी ।

द्रव्य दृष्टि से शाश्वत है और भाव-दृष्टि से अशाश्वत ।

३२५

जीव न कभी बढ़ते हैं और न कभी घटते हैं । बल्कि सदा अवस्थित रहते हैं ।

३२६

कोई भी क्रिया किये जाने पर ही सुख, दुःख का कारण बनती है, न किये जाने पर कभी नहीं ।

३२७

जो जीव हैं वह निश्चित ही चैतन्य है और जो चैतन्य है वह निश्चित ही जीव है ।

३२८

जो असत् है वह कभी सत् रूप में उत्पन्न नहीं होता ।

३२९

सुन्दर पुद्गल कुरूपता में परिणत होते रहते हैं और कुरूप पुद्गल सुन्दरता में ।

३३०

जो जीवे वि वियाणेइ, अजीवे वि वियाणइ ।
जीवाजीवे वियाणतो, सोहु नाहीइ सजम ॥

३३१

सामाइयत्थ पढम, छेदोवट्ठावण भवे वीय ।
परिहारविसुद्धीय, सुहुम तह सपराय च ॥
अकसाय महवखाय, छउमत्थस्स जिणस्स वा ।
एय चयरित्तकर, चारित्त होइ आहिय ॥

३३२

समुप्पायमजाणता, कह नायति सवर ।

३३०

जो जीव को भी जानता है, अजीव को भी जानता है । जीव-अजीव के स्वरूप को जाननेवाला साधक समय के स्वरूप को भी जान सकता है ।

३३१

[१] सामायिक, [२] छेदोपस्थापनीय, [३] परिहार विशुद्धि, [४] सूक्ष्मसपराय तथा [५] कषायरहित यथाख्यातचारित्र [जो छद्मस्थ या जिन को प्राप्त होता है] ये सर्व कर्मों की राशि को रिक्त-क्षय करनेवाले चारित्र के पाँच भेद है ।

३३२

जो दुःखोत्पत्ति के कारण को नहीं समझता । वह उस के निरोध का कारण कैसे जान सकेगा ।



आत्मा

३३३

जे एग जाणइ, से सव्व जाणइ ।
जे सव्व जाणइ, से एग जाणइ ॥

३३४

अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली ।
अप्पा कामदुहा धेणू, अप्पा मे नदन वण ॥

३३५

सरीरमाहु नावत्ति, जीवो वुच्चइ नाविओ ।
ससारो अण्णवो वुत्तो, ज तरन्ति महेसिणो ॥

३३६

पुरिसा । अत्ताणमेव अभिनिगिज्झ,
एव दुक्खा पमोक्खसि ।

३३७

अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो ।
अप्पा दन्तो सुही होइ, अस्सि लोए परत्थ य ॥

३३८

वर मे अप्पा दन्तो सजमेण तवेण य ।
माऽह परेहि दम्मन्तो, बधणेहि वहेहि य ॥

३३३ आचा० १।३।४ ३३४ उक्त० २०।३६ ३३५ उक्त० २३।७३
३३६ आचा० ३।३।११६ ३३७ उक्त० १।१५ ३३८. उक्त० १।१६

आत्मा

३३३

जो एक को जानता है, वह सब को जानता है और जो सब को जानता है वह एक को जानता है ।

३३४

मेरी आत्मा ही वैतरणी नदी है और आत्मा ही कूटशाल्मली वृक्ष है ।
आत्मा ही काम-दूधा-धेनु है और आत्मा ही नन्दनवन है ।

३३५

शरीर को नौका कहा गया है, आत्मा को नाविक कहा गया है, और
ससार को समुद्र कहा गया है । महान् मोक्ष की एषणा करनेवाले
महर्षिगण इसे तैर जाते हैं ।

३३६

हे पुरुष ! तू अपने आप का निग्रह कर, स्वयं के निग्रह से ही तू ससस्त
दुःखों से मुक्त हो जायगा ।

३३७

आत्मा का ही दमन करना चाहिए क्योंकि आत्मा दुर्दम्य है । उस का
दमन करने वाला इहलोक और परलोक में सुखी होता है ।

३३८

दूसरे लोग बन्धन और बध के द्वारा मेरा दमन करें, इसकी अपेक्षा
यही अच्छा है की मैं स्वयं समय और तप के द्वारा अपनी आत्मा का
दमन करूँ ।

३३६

वन्धप्पमोक्खो अज्झत्थेव ।

३४०

अप्पाणमेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण वज्झओ ।
अप्पाणमेव अप्पाण, जइत्ता मुहमेहए ॥

३४१

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य ।
अप्पा मित्तममित्त च, दुपट्ठिअ सुप्पट्ठिओ ॥

३४२

जे आया से विन्नाया, जे विन्नाया से आया ।
जेण वियाणइ से आया, त पडुच्च पडिसखाए ॥

३४३

जो सहस्स सहस्साण, सगामे दुज्जए जिणे ।
एग जिणेज्ज अप्पाण, एस से परमो जओ ॥

३४४

न तं अरी कठछेत्ता करेड- ज से करे अप्पणिया दुरप्पा ।

३४५

पुरिसा । अत्ताणमेव अभिणिगिज्झ,
एवं दुक्खा पमुच्चसि ।

३४६

अन्नो जीवो, अन्न सरीर ।

३३६. आचा० १।५।२

३४०. उत्त० ६।३५

३४१. उत्त० २०।३७

३४२. आचा० १।५।५

३४३ उत्त० ६।३४

३४४ उत्त० २०।४८

३४५ आचा० ३।३।१०

३४६ सूत्र० २।१।६

३३६

वस्तुतः बन्धन और मोक्ष अपने भीतर ही है ।

३४०

आत्मा के साथ ही युद्ध कर, बाहरी दुश्मनो के साथ युद्ध करने से तुझे क्या लाभ ? आत्मा को आत्मा के द्वारा ही जीत कर मनुष्य सच्चा सुख पा सकता है ।

३४१

आत्मा ही सुख-दुःख करने वाली तथा उनका नाश करनेवाली है । सत् प्रवृत्ति में लगी हुई आत्मा ही मित्ररूप है जब कि दुष्प्रवृत्ति में लगी हुई आत्मा ही शत्रु रूप है ।

३४२

जो आत्मा है वह विज्ञाता है जो विज्ञाता है वह आत्मा है । जिससे जाना जाय वह आत्मा है, जानने की शक्ति से ही आत्मा की प्रतीति है ।

३४३

जो पुरुष दुर्जय-संग्राम में दम लाख योद्धाओं पर विजय प्राप्त करे, उसकी अपेक्षा वह एक अपने आप को जीतता है यह उसकी परम विजय है ।

३४४

दुराचार में प्रवृत्त आत्मा जितना हमारा अनिष्ट करती है उतना अनिष्ट तो एक गला काटनेवाला दुश्मन भी नहीं करता ।

३४५

हे आत्मन् ! तू स्वयं ही अपना निग्रह कर । ऐसा करने से दुःखों से मुक्त हो जायगा ।

३४६

आत्मा और, है शरीर और (अन्य) है ।

३४७

जहा रागेण कडाणं कम्माण, पावगो फलविवागो ।
जह य परिहीणकम्मा, सिद्धा सिद्धालयमुवेति ॥

३४८

णरग तिरिक्ख जोणि,
माणुसभावं च देवलोगं च ।
सिद्धे अ सिद्ध वसहिं,
छज्जीवणिय परिकहेइ ॥

३४९

अन्ने खलु कामभोगा, अन्नो अहंमसि ।

३५०

पुरिसा ! तुममेव तुमं मित्त,
किं वहिया मित्तमिच्छसि ।

३५१

सव्वे सरा नियट्ठति, तवका जत्थन विज्जइ ।
मई तत्थ न गाहिया ॥

३५२

हत्थिस्स य कुंथुस्स य समे चेव जीवे ।

३५३

एगे आया ।

३५४

अहं अव्वए वि अहं अवट्ठिए वि ।

३४७ औप० ३५

३५० आचा० १।३।३

३५२ ममया० १।१

३४८ औप० ३७

३५१ आचा० १।५।६

३५४. ज्ञाता० १।६

३४९. सूत्र० २।१।१३

३५२ भग० ७।८

३४७

जिस प्रकार यह आत्मा राग-द्वेष द्वारा कर्मों का उपार्जन करती है और समय पर उन कर्मों का विपाक-फल भोगती है, उसी प्रकार यह आत्मा सर्वकर्मों का नाश कर सिद्धलोक में सिद्धपद को प्राप्त करती है ।

३४८

जो आत्मा पापकर्म का उपार्जन करती है वे नरक और तिर्यंच योनि में जन्म लेती है, जो पुण्य का उपार्जन करती है, वे मनुष्य तथा देव गति में जाती है । और जो पृथ्वी, अप्, तेज, वायु तथा वनस्पति के जीवों की तथा त्रस-जीवों की रक्षा कर कर्म दलिकों को नष्ट कर देती हैं, वे आत्मा सिद्धालय में सिद्धावस्था को प्राप्त होती है । ऐसा ज्ञानियों का कथन है ।

३४९

शब्द, रूप, गन्ध आदि काम-भोग (जड-पदार्थ) और हैं, मैं (आत्मा) और हूँ ।

३५०

पुरुष ! तू स्वयं ही अपना मित्र है । फिर बाहर में क्यों किसी मित्र की खोज कर रहा है ?

३५१

आत्मा के वर्णन में समस्त शब्द समाप्त हो जाते हैं । वहाँ तर्क का भी स्थान नहीं है और न बुद्धि ही उसे ठीक तरह से ग्रहण करने में समर्थ होती है ।

३५२

आत्मा की दृष्टि से हाथी और कुन्धुआ दोनों में एक सदृश आत्मा है ।

३५३

स्वरूप दृष्टि से सभी आत्माएँ एक (समान) हैं ।

३५४

मैं (आत्मा) अविनाशी हूँ, अवस्थित हूँ ।

३५५

अत्तकडे दुक्खे, नो परकडे ।

३५६

दुज्जय चेव अप्पाण, सव्वमप्पे जिए जिय ।

३५७

नो इन्दियग्गेज्झ अमुत्तभावा,
अमुत्तभावा वि य होइ निच्च ।

३५८

अप्पा हु खलु सयय रक्खियव्वो ।

३५५

आत्मा का दुःख स्वकृत है अर्थात् अपना ही किया हुआ दुःख है, किसी अन्य का नहीं ।

३५६

एक दुर्ज्येष्ठ आत्मा को जीत लेने पर सब कुछ जीत लिया जाता है ।

३५७

आत्मा अमूर्त तत्त्व है, यह इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं है । यह अमूर्त है इस लिये नित्य है ।

३५८

अपनी आत्मा को सदा पापकर्मों से बचाये रखना चाहिए ।

मोक्ष

३५६

नाण च दसण चेव, चरित्त च तवो तथा ।
एस मग्गु त्ति पन्नत्तो, जिणेहिं वरदसिंहि ॥

३६०

नादसणिस्स नाणं,
नाणेण विणा न हुन्ति चरणगुणा ।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो,
नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं ॥

३६१

निव्वाण परम बुद्धा, णक्खत्ताण व चंदिमा ।
तम्हा सदा जए दत्ते, निव्वाण सधए मुणी ॥

३६२

डहरे य पाणे बुद्धे य पाणे,
ते आत्तओ पासइ सव्वलोए ।
उव्वेहई लोगमिणं महन्त,
बुद्धेऽ पमत्तेसु परिव्वएज्जा ॥

३६३

सयमेव कडेहिं गाहइ, नो तस्स मुच्चेज्जऽपुट्टय ।

३६४

आहसु विज्जाचरण पमोक्खं ।

३५६. उत्त० २८।२

३६२ सूत्र० १।१२।१८

३६० उत्त० २८।३०

३६३ सूत्र० १।२।१।४

३६१. सूत्र० १।११।२२

३६४. सूत्र० १।१२।११

मोक्ष

३५६

ज्ञान, दर्शन, चास्त्र और तप ही मोक्ष का मार्ग है, ऐसा सर्वदर्शी ज्ञानियो ने बतलाया है ।

३६०

श्रद्धा के बिना ज्ञान नहीं होता, ज्ञान के बिना आचरण नहीं होता, आचरण के बिना मोक्ष नहीं मिलता और मोक्ष पाये बिना निर्वाण—पूर्ण शान्ति नहीं मिलती ।

३६१-

जैसे चन्द्रमा सभी नक्षत्रों में प्रधान है उसी प्रकार मोक्ष भी सभी पुरुषार्थों में प्रधान है, अतएव मुनि सदा यतनावान् जितेन्द्रिय होकर मोक्ष की साधना करे ।

३६२

जो ज्ञानी आत्मा इस लोक में छोटे-बड़े सभी प्राणियों को आत्मतुल्य देखते हैं, पट्द्रव्यात्मक इस महान् लोक का सूक्ष्मता से निरीक्षण करते हैं तथा अप्रमत्तभाव से सयम में रत रहते हैं । वे ही मोक्ष प्राप्ति के अधिकारी हैं ।

३६३

आत्मा अपने स्वयं के उपाजित कर्मों से ही बधता है । कृतकर्मों को भोगे बिना मुक्ति नहीं है ।

३६४

ज्ञान और कर्म से ही मोक्ष प्राप्त होता है ।

३६५

एगे मरणे अन्तिमसारीरियाण ।

३६६

कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि ।

३६७

अउल सुहसपत्ता उवमा जस्स नत्थि उ ।

३६८

नाणेण जाणई भावे, दसणेण य सद्वहे ।
चरित्तेण निगिण्हाई, तवेण परिसुज्झई ॥

३६९

जया संवरमुक्किट्ठं, धम्म फासे अणुत्तर ।
तया धुणइ कम्मरय, अवोहि-कलुस कडं ॥

३७०

जया जोगे निरुंभित्ता, सेलेसि पडिवज्जइ ।
तया कम्म खवित्ताण सिद्धि गच्छइ नीरओ ॥

३७१

जया कम्मं खवित्ताण, सिद्धि गच्छइ नीरओ ।
तया लोग मत्थयत्थो, सिद्धो हवइ सासओ ॥

३७२

अह भवे पइत्ता उ, मोक्खसब्भूयसाहणे ।
नाण च दसणं चेव, चरित्त चेव निच्छए ॥

३७३

वन्धप्पमोक्खो तुज्झज्झत्थेव ।

३६५. स्था० १।१।३६

३६८. उत्त० २८।३५

३७१ दश० ४।२५

३६६. उत्त० ४।३

३६९ दश० ४।२०

३७२ उत्त० २३।३३

३६७. उत्त० ३६।६६

३७० दश० ४।२४

३७३. आचा० ५।२।१५०

३६५

मुक्त होनेवाली आत्माओं का वर्तमान अन्तिम देह का मरण ही एक मरण होता है, और नहीं।

३६६

उपाजित कर्मों का फल भोगे बिना मुक्ति नहीं है।

३६७

मोक्ष मे आत्मा अनन्त सुखमय रहता है, उस सुख की न कोई उपमा है और न कोई गणना ही।

३६८

जीव ज्ञान से पदार्थों को जानता है, दर्शन से श्रद्धा करता है, चारित्र से आश्रव का निरोध करता है, और तप से कर्मों को भाड कर शुद्ध-निर्मल होता है।

३६९

जब साधक उत्कृष्ट सयमरूपी धर्म का स्पर्श करता है, तब आत्मा पर लगी हुई मिथ्यात्व-जनित कर्म-रज को झाड कर दूर कर देता है।

३७०

जब आत्मा मन, वचन और काय के योगो का निरोध कर शैलेशी अवस्था को प्राप्त करती है, तब वह कर्मों का क्षय कर सर्वथा मल-रहित होकर सिद्धि (मोक्ष) को प्राप्त होती है।

३७१

जब आत्मा समस्त कर्मों को क्षय कर सर्वथा मलरहित सिद्धि (मोक्ष) को पा लेती है, तब वह लोक के मस्तक पर स्थित होकर सदा के लिए सिद्ध हो जाती है।

३७२

यदि किसी साधक को मोक्ष की वास्तविक साधना की प्रतिज्ञा है तो निश्चयदृष्टि मे उस के साधन ज्ञान, दर्शन और चारित्र ही है।

३७३

बन्धन से मुक्त होना तुम्हारे ही हाथ मे है।

३७४

निरासवे सखवियाणकम्म तओ,
अणुत्तर सजमपालिया ण ।

३७५

तस्सेस मग्गो गुरु-विद्धसेवा,
विवज्जणा बालजणस्स दूरा ।
सज्झायएगतनिसेवणा य,
सुत्तत्थ सच्चित्तणया धिई य ॥

३७६

परीसहे जिणतस्स, सुलहा सुगई तारिसगस्स ।

३७७

निव्वाण परम जाइ, घयसित्ते व पावए ।

३७८

जइ णाम कोइ मिच्छो णगर गुणे बहुविहे वियाणतो ।
ण चएइ परिकहेउ उवमाण, तहि असतोए ॥

३७९

इय सिद्धाण सोक्ख अणोवम णत्थि तस्स ओवम्म ।
किंचि विसेसेणेत्तो ओवम्ममिण सुणह वोच्छ ॥

३८०

सिद्धत्ति य बुद्धत्ति य पारगयत्तिय परपरगयत्ति ।
उम्मुक्ककम्मकवया अजरा अमरा असगा य ॥

३८१

णिच्छिण्णसव्वदुक्खा जाइ जरामरणवध्धण विमुक्का ।
अव्वावाह सुक्ख अणुहोति सासय सिद्धा ॥

३८२

णवि अत्थि माणुसाणं त सोक्ख ण विय सव्वदेवाण ।
ज सिद्धाण सोक्ख अव्वावाह उवगयाण ॥

३७४ उक्त० २०।५२

३७५. उक्त० ३२।३

३७६. दश० ४।२७

३७७ उक्त० ३।१२

३७८ उव० १८३

३७९. उव० १८४

३८०. उव० १८७

३८१. उव० १८८

३८२ उव० १८०

३७४

जिसने सर्व-आश्रवो का निरोध कर दिया है, तथा सर्वकर्मों का क्षय कर दिया है, वह विपुलोत्तम शाश्वत मोक्ष को प्राप्त कर लेता है ।

३७५

गुरु और वृद्धो [स्थविर मुनियो] की सेवा करना, अज्ञानी-जनो का दूर से ही वर्जन करना, स्वाध्याय करना, एकान्तवास करना, सूत्र और अर्थ का चिन्तन करना, तथा धैर्य रखना, यह मोक्ष का मार्ग है ।

३७६

जो साधक परीषहो पर विजय पाता है उस के लिए मोक्ष सुलभ है ।

३७७

धृत से अभिसिञ्चित अग्नि जिस प्रकार पूर्ण प्रकाश को पाती है, उसी प्रकार सरल एवं शुद्ध साधक ही पूर्ण निर्वाण-मोक्ष को प्राप्त होता है ।

३७८—३७९

जिस प्रकार कोई म्लेच्छ (जगली) नगर की अनेक विघ-विशेषताओ को देख लेने पर भी उपमा न मिलने से उस का वर्णन करने में वह असमर्थ होता है । इसी प्रकार सिद्धात्माओ का सुख अनुपम होता है । उनकी तुलना नहीं हो सकती ।

३८०

सर्वकार्य सिद्ध होने वे सिद्ध हैं, सर्वतत्त्व के पारगामी होने से बुद्ध हैं, ससार समुद्र को तैर चुके होने से पारगत है, तथा हमेशा सिद्ध रहेंगे, इस से परपरागत है ।

३८१

सिद्धात्मा समस्त दुःखो को नष्ट किये होते हैं । जन्म, जरा और मृत्यु के बन्धन से मुक्त होते हैं । अव्यावाध सुख का अनुभव करते हैं और शाश्वत सिद्ध होते हैं ।

३८२

ऐसा सुख न तो मनुष्य के होता है और न सभी देवताओ के, जैसा कि अव्यावाध गुण को प्राप्त सिद्धात्माओ के होता है । ●

जीवन और कला (२)

विनय	●
वैराग्य	●
सयम	●
श्रमण	●
श्रमण-धर्म	●
गुरु-शिष्य	●
भिक्षाचरी	●
इन्द्रिय-निग्रह	●
मनोनिग्रह	●
श्रावक-धर्म	●
ब्राह्मण कौन ?	●
क्षमा	●
मृत्युकला	●
कषाय	●
क्रोध	●
मान	●
माया	●
लोभ	●
मोह	●
राग-द्वेष	●
कर्मवाद	●
सदाचार	●
साधक जीवन	●

विनय

३८३

आणानिद्देसकरे, गुरुणमुववायकारए ।
इगियागारसपत्ते, से विणीए त्ति वुच्चई ॥

३८४

विणए ठविज्ज अप्पाण, इच्छतो हियमप्पणो ।

३८५

थंभा व कोहा व मयप्पमाया,
गुरुस्सगासे विणय न सिक्खे ।
सो चेव उ तस्स अभूइभावो,
फल व कीअस्स वहाय होइ ॥

३८६

सिया हु से पावय नो डहिज्जा,
आसीविसो वा कुविओ न भक्खे ।
सिया विस हालहल न मारे,
न यावि मुक्खो गुरुहीलणाए ॥

३८७

रायणिएसु विणय पज्जे ।

३८८

विणय पि जो उवाएण, चोइओ कुप्पई नरो ।
दिक्ख सो सिरिमिज्जति, दण्डेण पडिसेहए ॥

३८३ उत्त० १।२

३८६, दश० ६।७

३८४ उत्त० १।६

३८७, दश० ८।४०

३८५, दश० ६।१

३८८, दश० ६।२।४

विनय

३८३

जो शिष्य गुरु की आज्ञा और निर्देश का पालन करता है, उनके निकट-सम्पर्क में रहता है, तथा उन के इंगित और आकार से मनोभाव को समझ कर कार्य करता है, वह विनीत कहलाता है ।

३८४

आत्म-हितैषी साधक अपने आप को विनय धर्म में स्थिर करे ।

३८५

जो मुनि अभिमान, क्रोध, माया, या प्रमादवश गुरु के निकट रहकर विनय नहीं सीखता, उन के प्रति विनय का व्यवहार नहीं करता उस का यह अविनयी भाव वास के फल की तरह स्वयं के लिए विनाश का कारण बनता है ।

३८६

संभव है कदाचित् अग्नि न जलावे, संभव है कुपित विपक्ष न डसे और यह भी संभव है कि हलाहल विष भी मृत्यु का कारण न बने, किन्तु गुरु की अवहेलना करनेवाले साधक के लिए मोक्ष संभव नहीं है ।

३८७

बड़ों के साथ सदा विनयपूर्ण व्यवहार करो ।

३८८

कोई महापुरुष सुन्दर-शिक्षा द्वारा किसी को विनय-मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करे तब वह कुपित होता है । ऐसी स्थिति में वह स्वयं अपने द्वार पर आई हुई दिव्य लक्ष्मी को उण्डा-मार कर भगा देता है ।

३८६

मूलाओ खधप्पभवो दुमस्स,
खधाउ पच्छा समुवेन्ति साहा ।
साहप्पसाहा विरुहन्ति पत्ता,
तओ सि पुप्फं च फल रसो य ॥

३८७

एव धम्मस्स विणओ, मूल परमो से मोक्खो ।
जेण किंत्ति, मुय, सिग्घ, निस्सेसं चाभिगच्छई ॥

३८८

जस्सतिए धम्मपयाइ सिक्खे,
तस्सतिए वेणइय पउजे ।

३८९

आयरिय कुविय नच्चा, पत्तिएण पसायए ।
विज्झवेज्झ पजलीउडो, वएज्ज न पुणुत्ति य ॥

३९०

विणओ वि तवो, तवो पि धम्मो ।

३९१

वेयावच्चेण तित्थयरनाम गोय कम्म निवधेइ ।

३९२

गिलाणस्स अगिलाए वेयावच्चकरणयाए अव्वभुट्टेयव्व भवइ ।

३९३

कलहडम्बरवज्जिए... सुविणीएत्ति बुच्चई ।

३९४

तम्हा विणयमेसिज्जा, सील पडिलभेज्जओ ।

३८६ दण० ६।२।१

३८७ दण० ६।२।२

३८८. दण० ६।१।१२

३८९ उत्त० १।४।१

३९० प्रण० २।३

३९१. उत्त० २६।४३

३९२ म्या० ८

३९३. उत्त० ११।१३

३९४. उत्त० १।७

३८६

वृक्ष के मूल से स्कन्ध उत्पन्न होता है स्कन्ध के पश्चात् शाखाएँ, और शाखाओं में से प्रशाखाएँ निकलती हैं। इस के पश्चात् फूल, फल और रस उत्पन्न होता है।

३९०

इसी प्रकार धर्म रूपी वृक्ष का मूल विनय है, और उसका अन्तिम फल मोक्ष है। विनय से मनुष्य को कीर्ति, प्रशंसा और श्रुतज्ञान आदि समस्त इष्ट तत्त्वों की प्राप्ति होती है।

३९१

जिनके पास धर्म-शिक्षा प्राप्त करे, उनके प्रति सदा विनय भाव रखना चाहिए।

३९२

विनीत शिष्य आचार्य को कुपित हुए जानकर प्रीतिकारक वचनों से उन्हें प्रसन्न करे, हाथ जोड़कर उन्हें शान्त करे और अपने मुँह से ऐसा कहे कि “पुन मैं ऐसा नहीं करूँगा”।

३९३

विनय स्वयं एक तप है और श्रेष्ठ धर्म है।

३९४

वैयावृत्य-सेवा से जीव तीर्थंकर नाम गोत्र जैसे उत्कृष्ट पुण्यकर्म का उपार्जन करता है।

३९५

रोगी की सेवा के लिए सदा जागरूक रहना चाहिए।

३९६

कलह और जीवहिंसा को वर्जनेवाला व्यक्ति सुविनीत होता है।

३९७

विनय से साधक को शील—सदाचार मिलता है। अतः उस की खोज करनी चाहिए।

३९८

वित्ते अचोइए णिच्च, खिप्पं हवइ सुचोइए ।
जहोवइठ्ठ सुकय, किच्चाइ कुव्वइ सया ॥

३९९

विणयमूले धम्मे पन्नत्ते ।

४००

जत्थेव धम्मायरिय पासेज्जा,
तत्थेव वदिज्जा नमसिज्जा ।

४०१

अणुसासिओ न कुप्पिज्जा ।

४०२

हिय त मण्णई पण्णो, वेस होइ असाहुणो ।

४०३

जे य चडे मिए थद्धे, दुव्वाई नियडी सढे ।
बुज्झइ से अविणीअप्पा, कट्ठं सोअगय जहा ॥

●

३९८

विनय-सम्पन्न शिष्य गुरु द्वारा विना प्रेरणा दिये ही कार्य करने में प्रवृत्त होता है। वह अच्छे प्रेरक गुरु की प्रेरणा पा कर शीघ्र ही उन के उपदेशानुसार सभी कार्य भली-भाँति सम्पन्न कर लेता है।

३९९

धर्म का मूल विनय—आचार है।

४००

जहाँ कहीं भी अपने धर्माचार्य के देखे वही उन्हें वन्दन नमस्कार करना चाहिए।

४०१

गुरुजनों के शिक्षा देने पर कुपित-क्षुब्ध नहीं होना चाहिए।

४०२

प्रज्ञा-शील शिष्य गुरुजनों की जिन शिक्षाओं को हितकर मानता है, दुर्बुद्धि-अविनीत शिष्य को वे ही शिक्षाएँ बुरी लगती हैं।

४०३

जो चण्ड है, अज्ञ है, स्तब्ध है, अप्रियवादी है, मायावी है और शठ है, वह अविनीतात्मा ससार के प्रवाह में उसी प्रकार प्रवाहित होता रहता है, जैसे नदी के प्रवाह में पड़ा हुआ काष्ठ।

वैराग्य

४०४

ताले जह वधणच्चुए, एव आउखयमि तुट्ठती ।

४०५

एगस्स गती य आगती ।

४०६

मा एय अवमन्नंता, अप्पेण लुप्पहा वहुं ।

४०७

उविच्च भोगा पुरिस चयन्ति,
दुम जहा खीणफल व पक्खी ।

४०८

उवणमति मरणघम्म अवित्तत्ता कामाण ।

४०९

इहलोए ताव नट्ठा, परलोए वि य नट्ठा ।

४१०

अदक्खु कामाइ रोगवं ।

४११

देवा वि सइदगा न तित्ति न तुट्ठि उवलभति ।

४०४. सूत्र० १।२।१।६

४०७ उत्त० १३।३१

४१० सूत्र० १।२।३।२

४०५. सूत्र० १।२।३।१७

४०८ प्रश्न० १।४

४११. प्रश्न० १।५

४०६ सूत्र० १।३।४।७

४०९. प्रश्न० १।४

वैराग्य

४०४

जैसे ताल-वृक्ष का फल वृन्त से टूट कर नीचे गिर पड़ता है, वैसे ही आयु-कर्म के क्षीण होने पर प्रत्येक प्राणी का जीवन-धागा टूट जाता है।

४०५

यह आत्मा परिवार आदि से मुक्त होकर परलोक में अकेला ही गमना-गमन करता है।

४०६

वीतराग मार्ग की अवज्ञा करते हुए, अल्प-वैषयिक सुखों के लिए तुम अनन्त सुख (मोक्ष) को नष्ट मत करो।

४०७

मनुष्य के पुण्य क्षीण होने पर भोग साधन उन्हें उसी प्रकार छोड़ देते हैं, जिस प्रकार क्षीण-फलवाले वृक्ष को पक्षी।

४०८

सुन्दर से सुन्दर सुख का उपभोग करनेवाले देव और चक्रवर्ती आदि भी अन्त में काम-भोगों की अतृप्त-दशा में ही मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

४०९

विषयासक्त जीव इस लोक में भी विनाश को प्राप्त होते हैं और परलोक में भी।

४१०

आत्म-निष्ठ साधक की दृष्टि में काम-भोग रोग के समान है।

४११

देव और इन्द्र भी (भोगों से) न कभी तृप्त होते हैं और न कभी सन्तुष्ट ही।

४१२

सबुज्झह । किं न बुज्झह ? सवोही खलु पेच्च दुल्लहा ।
णो हूवणमति राइयो, नो सुलभ पुणरावि जीविय ॥

४१३

माणुसत्ते असारम्मि, वाहि-रोगाण आलए ।
जरा-मरण-घत्थम्मि, खण पि न रमामह ॥

४१४

असासए सरीरम्मि, रइ नोवलभामह ।
पच्छा पुरा व चइयव्वे, फेणवुव्वुय-सन्निभे ॥

४१५

चिच्चा वित्त च पुत्ते य, णाइओ य परिग्गह ।
चिच्चा ण णंतग सोय, निरवेक्खो परिव्वए ॥

४१६

जेण सिया तेण णो सिया ।

४१७

नीहरन्ति मय पुत्ता, पियर परमदुक्खिया ।
पियरो वि तहा पुत्ते, वन्धू रायं । तव चरे ॥

४१२. सूत्र० १।२।१।१ ४१३. उक्त० १६।१४ ४१४. उक्त० १६।१३
४१५ सूत्र० १।६।७ ४१६. आचा० १।२।४ ४१७ उक्त० १८।१५

४१२

हे भव्यो ! तुम समझो, क्यों नहीं समझ रहे हो ? मरने के बाद परभव मे सबोध की प्राप्ति होना अत्यन्त कठिन है । जो रात्रियाँ बीत रही हैं वे पुन लौट कर नहीं आती । मनुष्य का जीवन भी पुन प्राप्त होना सुलभ नहीं है ।

४१३

मनुष्य-शरीर असार है, व्याधि और रोगो का घर है । जरा और मरण से ग्रस्त है । अत इसमे मुझे एक क्षण भी आनन्द नहीं मिल रहा है ।

४१४

यह शरीर पानी के बुलबुले के समान नश्वर है । पहले या पीछे जब कभी इसे छोड़ना अवश्य है । अत इस के प्रति मेरी तनिक भी प्रीति-आसक्ति नहीं है ।

४१५

विवेकशील आत्मा धन, पुत्र, ज्ञाति, परिग्रह तथा अन्तराशोक को छोड़कर निरपेक्ष हो सयम की परिपालना करे ।

४१६

तुम जिन वस्तुओ से सुख की अभिलाषा रखते हो, वस्तुत वे सुख के हेतु नहीं है ।

४१७

जैसे अत्यन्त दुःखी हुए पुत्र, मृत पिता को श्मशान ले जाते हैं, और इसी प्रकार पिता भी अपने पुत्रो तथा वन्धुओ को भी श्मशान ले जाता है । अतः हे राजन् ! यह देख कर तप का आचरण कर ।

संयम

४१८

चउव्विहे सजमे—

मणसजमे, वइसजमे, कायसजमे, उवगरणसजमे ।

४१९

ज मय सव्व साहूण, त मय सल्लगत्तणं ।

साहइत्ताण त तिण्णा, देवा वा अभविसु ते ॥

४२०

जहा दुक्ख भरेउ जे, होइ वायस्स कोत्थलो ।

तहा दुक्ख करेउ जे, कीबेण समणत्तण ॥

४२१

अणुसोअपट्ठिए वहुजणम्मि, पडिसोयलद्धलक्खेण ।

पडिसोअमेव अप्पा, दायव्वो होउ कामेण ॥

४२२

वालुयाकवले चेव, निरस्साए उ संजमे ।

४२३

जहा भुयार्हि तरिउ, दुक्कर रयणायरो ।

तहा अणुवसन्तेण, दुक्कर दमसागरो ॥

४१८. स्या० ४।२

४१९. सूत्र० १।१५।२४

४२०. उक्त० १९।४०

४२१. दश० चूलिका २।३

४२२. उक्त० १९।३८

४२३. उक्त० १९।४२

संयम

४१८

सयम के चार प्रकार हैं—मन का सयम, वचन का सयम, काया का सयम और उपधि-सामग्री का सयम ।

४१९

सभी साधुओं द्वारा मान्य, ऐसा जो सयमधर्म है वह पाप का नाश करनेवाला है । इसी सयम धर्म की उत्कृष्ट आराधना कर अनेक भव्य-जीव ससार-सागर से पार हुए हैं और अनेकों ने देवयोनि प्राप्त की है ।

४२०

जिस प्रकार वस्त्र के थैले को हवा से भरना कठिन है उसी प्रकार कायर-पुरुष के लिये श्रमणधर्म का पालन करना भी कठिन है ।

४२१

ससारी मनुष्य विषय के प्रवाह में बहनेवाले तथा उसी में सुख मानने-वाले होते हैं, जब कि सत-पुरुषों का लक्ष्य प्रतिस्रोत होता है । अनु-स्रोत ससार है और प्रतिस्रोत बाहर निकलने का उपाय—द्वार है ।

४२२

सयम बालू-रेती के कौर की तरह नीरस है ।

४२३

जिस प्रकार भुजाओं से तैर कर समुद्र को पार करना अति कठिन है, उसी प्रकार अनुपशान्त-आत्मा द्वारा सयमरूपी समुद्र को पार करना अति कठिन है ।

४२४

सजमेणं अण्हयत्त जणयइ ।

४२५

सजमेण तवसा अप्पाणे भावे माणे विहरइ ।

४२६

जो जीवे वि न जाणइ, अजीवे वि न जाणइ ।
जीवाऽजीवे अयाणतो, कह सो नाहीइ सजम ॥

४२७

जो जीवे वि वियाणाइ, अजीवे वि वियाणइ ।
जीवाऽजीवे वियाणतो, सो हु नाहीइ सजम ॥

४२८

असजमे निर्यत्ति च, सजमे य पवत्तण ।

४२९

गारत्थेहि य सव्वेहि, साहवो सजमुत्तरा ।

४३०

तहेव हिंस अलिय चोज्ज अवम्भसेवण ।
इच्छाकाम च लोभ च, सजओ परिवज्जए ॥

४३१

जो सहस्स सहस्साण, मासे मासे गव दए ।
तस्सावि सजमो सेओ, अदिन्तस्स वि किचण ॥

४२४. उत्त० २६।२६

४२५. उपा० १।७६

४२६. दश० ४।१२

४२७. दश० ४।१३

४२८. उत्त० ३।१२

४२९. उत्त० ५।२०

४३०. उत्त० ३।५।३

४३१. उत्त० ६।४०

४२४

सयम से जीव आश्रव-पाप का निरोध करता है ।

४२५

साधक सयम और तप से आत्मा को सतत् भावित करता हुआ विचरण करे ।

४२६

जो जीवो को नहीं जानता है वह अजीवो को भी नहीं जानता । जीव और अजीव दोनों को नहीं जाननेवाला सयम को कैसे जानेगा ?

४२७

जो जीवो को भी जानता है और अजीवो को भी जानता है । वह जीव और अजीव दोनों को जाननेवाला सयम को भी भलीभाँति-सम्यक् प्रकार से जान लेता है ।

४२८

असयम से निवृत्ति और सयम में प्रवृत्ति करनी चाहिए ।

४२९

मव गृहस्थो की अपेक्षा साधुओ का सयम श्रेष्ठ होता है ।

४३०

सयमी आत्मा, हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य-सेवन, भोग-लिप्सा एवं लोभ इन सब का सदा परित्याग करे ।

४३१

जो मनुष्य प्रतिमास दस-दस लाख गायो का दान देता है, उस की अपेक्षा कुछ नहीं देनेवाले सयमी का सयम श्रेष्ठ है ।

श्रमण

४३२

जह मम ण पियं दुक्ख, जाणिअ एमेव सव्वजीवाण ।
न हणइ न हणावेइ अ, सममणइ तेण सो समणो ॥

४३३

सयणे अ जणे अ समो, समो अ माणावमाणेसु ।

४३४

निरुवलेवा गगणमिव, निरालवणा अणिलो इव ।

४३५

समे य जे सव्वपाणभूतेसु, से हु समणे ।

४३६

अवि अप्पणो वि देहमि, नायरति ममाइय ।

४३७

भुच्चा पिच्चा सुह सुवई, पावसमणे त्ति वुच्चई ।

४३८

से जहा वि अणगारे उज्जुकडे णियागपडिवण्णे ।
अमाय कुव्वमाणे वियाहिए ॥

४३२ अनु० १२६

४३३ अनु० १३२

४३४. औप० ५३

४३५. प्रश्न० २।५

४३६ दश० ६।२२

४३७. उत्त० १७।३

४३८ आचा० १।३।१६

श्रमण

४३२

जिस प्रकार मुझे दुःख प्रिय नहीं है, उसी प्रकार अन्य सभी प्राणियों को दुःख प्रिय नहीं है। जो ऐसा जानकर न खुद हिंसा करता है, न किसी से हिंसा करवाता है, वह समत्त्वयोगी साधक ही सच्चा श्रमण-साधु है।

४३३

स्वजन तथा परजन में, मान एवं अपमान में सदा सम रहता है, वह श्रमण होता है।

४३४

सन्तपुरुष सदा गगन के समान निरवलेप और वायु के समान निरालब होते हैं।

४३५

समस्त प्राणियों के प्रति जो समदृष्टि रखता है वस्तुतः वही सच्चा श्रमण है।

४३६

निर्ग्रन्थ मुनि और तो क्या, अपने शरीर पर भी ममत्त्व नहीं रखते।

४३७

जो श्रमण खा-पी कर आराम से सोता है, समय पर धर्म साधना नहीं करता, वह पाप-श्रमण कहलाता है।

४३८

जो सरलतादि गुणों से युक्त होता है, तथा मोक्ष-मार्ग के साधन-रूप ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य से युक्त व कपटरहित होता है, वही विशिष्ट अनगार कहा गया है।

४३६

लाभालाभे सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तहा ।
समो निन्दापससासु, समो माणावमाणओ ॥

४४०

सुक्कज्झाण झियाएज्जा, अनियाणे अकिंचणे ।
वोसट्ठकाए विहरेज्जा, जाव कालस्स पज्जओ ॥

४४१

अणिसिओ इह लोए, परलोए अणिसिओ ।
वासी चन्दणकप्पो अ, असणे अणसणे तहा ॥

४४२

निम्मोम निरहकारो, निस्सगो चत्तगारवो ।

४४३

जहा अगिसिहा दित्ता, पाउ होइ सुदुक्कर ।
तहा दुक्कर करेउ जे, तारुण्णे समणत्तण ॥

४४४

मण परिजाणइ से निग्गये ।

४४५

वत्थगधमलकार, इत्थिओ सयणाणि य ।
अच्छन्दा जे न भुजति, न से चाइत्ति वुच्चइ ॥

४४६

जे य कते पिए भोए, लद्धे विपिट्ठी कुव्वइ ।
साहीणे चयइ भोए, से हु चाइत्ति वुच्चइ ॥

४३६ उत्त० १६।६१

४४०. उत्त० ३५।१६

४४१ उत्त० १६।६३

४४२ १६।६०

४४३ उत्त० १६।४०

४४४ आचा० २।३।१५।१

४४५. दश० २।२

१४७. दश० २।३

४३६

जो लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, जीवन-मरण, निन्दा-प्रशंसा, और मान-अपमान आदि हर स्थिति में समभाव से रहनेवाला होता है, वही वस्तुतः साधु है।

४४०

मुनि शुक्ल-व्यान में लीन रहे, सासारिक सुखों की कामना न करे, सदा अकिञ्चन वृत्ति से रहे तथा जीवन भर काया का ममत्त्व त्याग कर विचरण करता रहे।

४४१

साधु इस लोक और परलोक में अनासक्त भाव से रहे, वसुले से काटने अथवा चन्दन लगाने वाले पर तथा भोजन मिलने या न मिलने पर, हर स्थिति में समभाव पूर्वक रहे।

४४२

मुनि ममत्त्व रहित, अहंकार रहित, निर्लेप, गौरव का परित्याग करनेवाला, त्रस और स्थावर सभी जीवों के प्रति समभाव रखनेवाला होता है।

४४३

जैसे प्रज्वलित अग्नि-शिखा का पान करना अति दुष्कर है, वैसे ही जीवन में श्रमण धर्म का पालन करना अति कठिन है।

४४४

जो अपनी मन स्थिति को पूर्णतया परखना जानता है, वही सच्चा निर्ग्रन्थ-साधक है।

४४५

जो पुरुष वस्त्र, गन्ध, अलंकार-आभूषण, स्त्रियाँ और पलंगों का परवश होने के कारण सेवन नहीं करता, वह वास्तव में त्यागी नहीं कहलाता।

४४६

जो पुरुष प्राप्त हुए कान्त और प्रिय भोगों को स्वेच्छा से उदासीनता-पूर्वक त्याग देता है, वह निश्चय ही त्यागी कहलाता है।

४४७

गिहि-जोग परिवज्जए जे स भिक्खू ।

४४८

धम्मज्झाणए जे स.भिक्खू ।

४४९

विडत्तु जाई-मरण महब्भय,
तवे राए सामणिए जे स भिक्खू ।

४५०

तवसा धुणइ पुराण-पावग,
मण-वय-काय सुसवुडे जे स भिक्खू ।

४५१

हत्यसजए पायसजए, वायसंजए सजइदिए ।
अज्झप्परए सुसमाहिअप्पा, सुत्तत्थ च वियाणइ जे स भिक्खू ॥

४५२

सम सुह-दुक्ख सहे य जे स भिक्खू ।

४५३

महप्पसाया इसिणो हवति,
न हु मुणी कोवपरा हवति ।

४५४

उवसते अविहेडए जे स भिक्खू ।

४५५

जो कम्हि वि न मुच्छए स भिक्खू ।

४४७ दश० १०।६

४४८. दश० १०।१६

४४९ दश० १०।१४

४५० दश० १०।७

४५१. दश० १०।१५

४५२ दश० १०।११

४५३ उत्त० १२।३१

४५४. दश० १०।१०

४५५ उत्त० १५।२

४४७

जो गृहस्थो से अनि-स्नेह सूत्र नहीं जोड़ता, वह भिक्षु है ।

४४८

जो धर्म-ध्यान में सतत रत रहता है, वह भिक्षु है ।

४४९

जो जन्म-मरण को महाभयकारी और अनन्त दुःखों का कारण जान कर सयम और तप में रत रहता है, वह भिक्षु कहलाता है ।

४५०

जो तप द्वारा पूर्वापाजित पापकर्मों को नष्ट कर डालता है, वह भिक्षु कहलाता है ।

४५१

जो हाथ, पाँव, वाणी और इन्द्रियो का भलीभाँति सयम रखता है, जो अध्यात्म में रत रहता है, जो अपने-आप को सुन्दर रीति से समाहित रखता है, जो सूत्र और अर्थ को यथार्थ रूप से जानता है, वह भिक्षु है ।

४५२

जो सुख और दुःख को समभावपूर्वक सहन करता है, वह भिक्षु कहलाता है ।

४५३

ऋषि-मुनि सदा प्रसन्न-चित्त रहते हैं, कभी किसी पर कुपित नहीं होते ।

४५४

जो शान्त है तथा अपने कर्तव्य-पथ को अच्छी तरह से जानता है वही श्रेष्ठ भिक्षु है ।

४५५

जो किसी वस्तु में मूर्च्छाभाव न रखे, वही साधु है ।

४५६

लाभातरे जीविय बूहडत्ता,
पच्छा परिन्नाय मलावधसी ।

४५७

त विन्तज्ज्मापियरो, सामण्ण पुत्त दुच्चरं ।
गुणाण तु सहस्साड, धारेयव्वाइ भिक्खुणा ॥

४५८

न जाइमत्ते न य रुवमत्ते, न लाभमत्ते न मुएणमत्ते ।
मयाणि सव्वाणि विवज्जइत्ता, धम्मज्झाणरए जे स भिक्खू ॥

४५९

अन्नायपिडेण हियासएज्जा ।

४६०

सद्देहि रुवेहि असज्जमाण ।

४६१

सव्वेहि कामेहि विणीय गेहि ।

४६२

अवि हम्ममाणे फलगावतट्ठी,
समागम कखइ अंतगस्स ।

४६३

निघूय कम्म न पवञ्चुपेइ,
अक्खक्खए वा सगड तिवेमि ।

४६४

उवसमसार खु सामण्णं ।

४५६ उक्त० ४१७

४५९ सूत्र ११७।२७

४६२ सूत्र० ११७।३०

४५७. उक्त० ११।२५

४६० सूत्र० ११७।२७

४६३. सूत्र० ११७।३०

४५८ दश० १०।१९

४६१. सूत्र० ११७।२७

४६४. बृहत्कल्प० १।३५

४५६

जब तक नये-नये गुणों की उपलब्धि हो, तब तक जीवन को पोषण दे और जब यह शरीर स्वयं साधना में निरूपयोगी प्रतीत हो, तब सयमी-साधक मल के समान इस का त्याग कर दे ।

४५७

मात-पिता ने कहा—हे पुत्र ! श्रामण्य का आचरण अत्यन्त कठिन है, क्योंकि भिक्षु को हजारों गुण धारण करने होते हैं ।

४५८

जो जाति का मद नहीं करता, रूप का मद नहीं करता, लाभ का मद नहीं करता, श्रुत-ज्ञान का मद नहीं करता, इस प्रकार सब मदों को वर्जित हुआ धर्म-ध्यान में रत रहता है—वह सच्चा भिक्षु है ।

४५९

सयमी साधक अज्ञात पिण्ड से अपने जीवन का निर्वाह करे ।

४६०

साधु शब्द और रूप में आसक्त न बने ।

४६१

मुनि सर्व-कामनाओं से अपने चित्त को हटाता हुआ रहे ।

४६२

हनन किया जाता हुआ मुनि, छिली जाती हुई लकड़ी की तरह राग-द्वेष रहित होता है । वह शान्तभाव से मृत्यु की प्रतीक्षा करता है ।

४६३

कर्म क्षय करनेवाला मुनि उसी प्रकार ससार-प्रपञ्च में नहीं पड़ता, जिस प्रकार धुरा टूटने पर गाड़ी आगे नहीं बढ़ती ।

४६४

श्रमणत्व का सार है—उपशम ।

४६५

सन्निहि च न कुव्वेज्जा, लेवमायाए सजए ।

४६६

अप्पसत्थेहि दारेहि, सव्वओ पिहियासवो ।

४६७

अज्झप्पज्झाण जोगेहि, पसत्थदमसासणे ।

४६८

सव्वेहि भूएहि दयाणुकपी ।

४६९

समयाए समणो होइ ।

४७०

नाणेण उ मुणी होइ ।

४७१

जहा तुलाए तोलेउ, दुक्कर मन्दरो गिरी ।

तहा निहुय नीसक, दुक्कर समणत्तण ॥

४७२

नाणदंसण सपण्णं, सजमे य तवे रयं ।

एव गुणसमाउत्त, सजयं साहुमालवे ॥

४७३

णातिवाएज्ज कचण, एस वीरे पसंसिए
जे ण णिविज्जति आदाणाए ।

४६५ उत्त० ६।१६

४६८. उत्त० २१।१३

४७१ उत्त० १६।४२

४६६. उत्त० १६।६४

४६९ उत्त० २५।३२

४७२. दश० ७।४६

४६७ उत्त० १६।६४

४७० उत्त० २५।३२

४७३. आचा० २।४

४६५

सयमी मुनि लेप लगे उतना भी सग्रह न करे, वासी न रखे ।

४६६

मुनि कर्म आने के सभी अप्रशस्त द्वारों को सब ओर से बन्द कर अनाश्रवी बन जाता है ।

४६७

सयमी साधक अध्यात्म तथा ध्यानयोग से आत्मा का दमन एवं अनुशासन करनेवाला होता है ।

४६८

भिक्षु सर्व जीवों के प्रति दयानुकम्पी रहे ।

४६९

समभाव की साधना करने से श्रमण होता है ।

४७०

ज्ञान की आराधना-मनन करने से मुनि होता है ।

४७१

जैसे मेरु-पर्वत को तराजू से तोलना बहुत ही कठिन कार्य है, वैसे ही निश्चल और निर्भय-भाव से श्रमण-धर्म का पालन करना बहुत ही कठिन कार्य है ।

४७२

जो सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन से सम्पन्न हो, सयम और तप में निरत हो, ऐसे गुणों से युक्त सयमी साधक को ही साधु कहना चाहिये ।

४७३

सयमी किसी भी प्राणी को पीड़ा न पहुँचावे । जो सयम के पालन में किसी प्रकार का खेद नहीं करते हैं, वे पराक्रमी मुनि इन्द्रादि द्वारा प्रशंसित होते हैं ।

श्रमण-धर्म

४७४

पचासवपरिणाया, तिगुत्ता छसु सजया ।
पचनिग्गहणा धीरा, निग्गंथा उज्जुदसिणो ॥

४७५

हविज्ज उअरे दत्ते, थोव लद्धु न खिसए ।

४७६

जाइ सद्धाइ निक्खतो, परियायट्ठाणमुत्तम ।
तमेव अणुपालिज्जा, गुणे आयरियसम्मए ॥

४७७

जे न वदे न से कुप्पे, वदिओ न समुक्कसे ।
एवमन्नेसमाणस्स, सामण्णमणुचिट्ठई ॥

४७८

समण सजय दन्त, हणेज्जा को वि कत्थइ ।
नत्थि जीवस्स नासोत्ति, एव पेहेज्ज सजए ॥

४७९

देवलोगसमाणो य, परियाओ महेसिण ।

४८०

रयाण अरयाणं च, महानरयसारिसो ।

४७४ दश० ३।११

४७५ दश० ८।२९

४७६ दश० ८।६१

४७७ दश० ५।२।३०

४७८ उत्त० २।२७

४७९ दश० चू० १।

४८०. दश० चू० १।१०

श्रमण-धर्म

४७४

निग्रन्थ मुनि पचाश्रव का निरोध करनेवाले, तीन गुप्तियो से गुप्त, छह प्रकार के जीवों की रक्षा करनेवाले, पाँच इन्द्रियो का निग्रह करनेवाले, स्वस्थ चित्तवाले और ऋजुदर्शी होते हैं ।

४७५

श्रमण भूख का दमन करनेवाला होता है, थोड़ा-आहार मिलने पर भी वह कभी क्रोध नहीं करता ।

४७६

(श्रमण) जिस अनन्य-श्रद्धा से उत्तम-चारित्र्य धर्म स्वीकार किया हो, उसी श्रद्धा से उस का अनुपालन करे, तथा आचार्य द्वारा प्रदर्शित गुणों की आराधना में सतत जागरूक रहे ।

४७७

यदि कोई वन्दन न करे, तो उस पर क्रुद्ध न होवे, और यदि कोई वन्दन करे तो गर्व न करे । इस प्रकार जो विवेक पुरस्सर सयम-धर्म की आराधना करता है, उस का साधुत्व निर्वाध-भाव से स्थिर रहता है ।

४७८

इन्द्रियो का दमन करनेवाले मुनि को यदि कोई दुष्ट व्यक्ति पीटे तो वह—“आत्मा का नाश नहीं होता” ऐसा चिन्तन करे, किन्तु प्रतिशोध की भावना किंचित् भी मन में न लाए ।

४७९

सयम में अनुरक्त महर्षियों को चारित्र्य पर्याय-देवलोक जैसा सुख-ऐश्वर्य प्रदान करनेवाला होता है ।

४८०

जो साधक सयम में अनुरक्त नहीं है, उन के लिए चारित्र्य पर्याय महानरक जैसा कष्टदायी बन जाता है ।

४८१

न वि ता अहमेव लुप्पए, लुप्पन्ती लोगसि पाणिणो ।
एव सहिएहि पासए, अनिहे से पुट्टे हियासए ॥

४८२

गोवालो भडवालो वा, जहा तद्द्वणिस्सरो ।
एव अणिस्सरो त पि, सामण्णस्स भविस्ससि ॥

४८३

न पूयण चेव सिलोयकामी ।

४८४

पियमप्पिय कस्सइ णो करेज्जा ।

४८५

अकसाइ भिक्खू ।

४८६

आहारमिच्छे मियमेसणिज्ज ।

४८७

असिप्पजीवी अगिहे अमित्ते जिइन्दिए सव्वओ विप्पमुक्के ।
अणुक्कसाई लहु अप्पभक्खी, चेच्चा गिह एगचरे स भिक्खू ॥

४८८

दसविहे समणधम्मो पण्णत्ते, त जहा—
खती, मुत्ती, अज्जवे, मद्दवे, लाघवे,
सच्चे, सजमे, तवे, चियाए, वभचेरवासे ।

४८१ सूत्र० १।२।१।१३

४८२. उत्त० २२।४६

४८३ सूत्र० १।१३।

४८४. सूत्र० १।१३।२२

४८५ सूत्र० १।१३।२२

४८६. उत्त० ३२।४

४८७ उत्त० १५।१६

४८८. स्था० १०।७।१३

४८१

कष्ट तथा आपत्ति के आने पर ज्ञान-सम्पन्न पुरुष खेदरहित मन से इस प्रकार विचार करे कि कष्टों से मैं ही पीड़ित नहीं हूँ, किन्तु ससार में दूसरे भी दुःखित हैं । और जो कष्ट आये हैं, उन्हें शांतिपूर्वक सहन करे ।

४८२

जिस प्रकार कोई गोपाल गौओं के चराने मात्र से उनका स्वामी नहीं बन सकता, अथवा कोई (कोपाध्यक्ष) घन की रक्षा करने मात्र से ही उस का स्वामी नहीं हो सकता, ठीक इसी तरह हे शिष्य ! तू भी केवल साधु-वेश की रक्षामात्र से ही श्रामण्य का स्वामी नहीं बन सकेगा ।

४८३

सत पूजा, प्रतिष्ठा तथा कीर्ति की अभिलाषा न करे ।

४८४

सत पुरुष किसी को प्रिय अथवा अप्रिय न बनाए ।

४८५

श्रमण कपाय-भाव से रहित बने ।

४८६

आत्मार्य साधक को परिमित और शुद्ध आहार ग्रहण करना चाहिए ।

४८७

जो शिल्प-जीवी नहीं है, जिस के घर नहीं है, जिसके मित्र नहीं है, जो जितेन्द्रिय और सर्व प्रकार के परिग्रह से मुक्त है, जिस का कषाय मन्द है, जो अल्प और निस्सार भोजन करता है तथा गृह का त्याग कर अकेला राग-द्वेष रहित होकर विचरण करता है, वह भिक्षु है ।

४८८

दस प्रकार का श्रमण धर्म कहा गया है—क्षान्ति-क्षमा, मुक्ति-निर्लोभता, आर्जव-सरलता, मार्जव-नम्रता, लाघव-अकिंचनता, सत्य, सयम, तप, त्याग, और ब्रह्मचर्य ।

४८९

इदिएहि गिलायतो, समिय आहरे मुणी ।

४९०

पढम पोरसिं सज्झाय वीय ज्ञाण झियायई ।
तइयाए भिक्खायरिय, पुणो चउत्थीए सज्झाय ॥

४९१

गिलाण वेयावच्च करेमाणे समणे निग्गथे,
महाणिज्जरे महापज्जवसाणे भवति ।

४८६

शरीर और इन्द्रियो के क्लान्त होने पर भी मुनि अपने में साम्य-भाव स्थापित करे ।

४८७

सयमी साधक प्रथम प्रहर में स्वाध्याय और दूसरे में ध्यान करे । तीसरे में भिक्षाचरी [गोचरी] और चौथे में पुनः स्वाध्याय करे ।

४८८

जो श्रमण रुग्ण मुनि की सेवा करता है, वह महान् निर्जरा तथा महान् पर्यवसान-परिनिर्वाण करता है ।

गुरु-शिष्य

४६२

जहाहियगि जलण नमसे, नाणाहुई-मत-पयाभिसित्त ।
एवायरिय उवचिट्ठएज्जा, अणतनाणोवगओऽवि सतो ॥

४६३

आयरियेहि वाहित्तो, तुसिणीओ न कयाइवि ।

४६४

आलवते लवते वा, न निसीएज्ज कयाइवि,
चइळणमासण धीरो, जओ जत्त पडिस्सुणे ॥

४६५

आसणगओ न पुच्छेज्जा, नेव सेज्जागओ कया ।
आगम्मुककुडुओ सतो, पुच्छिज्जा पजलीउडो ॥

४६६

तट्ठिटीए, तम्मुत्तीए, तप्पुरक्कारे,
तस्सन्नी, तन्निवेसणे ।

४६७

हिरिमं पडिसलीणे, सुविणीए ।

४६२. दश० २।१।११

४६५ उत्त० १।२२

४६३ उत्त० १।२०

४६६ आचा० ५।४

४६४ उत्त० १।२१

४६७. उत्त० १।१।१३

गुरु-शिष्य

४६२

जैसे अग्निहोत्री ब्राह्मण मधु, घृत आदि विविध पदार्थों की आहुति तथा मन्त्रपदों से अभिषिक्त अग्नि को नमस्कार करता है, ठीक उसी प्रकार शिष्य अनन्त ज्ञान-सम्पन्न होने पर भी गुरु की विनयपूर्वक सेवा करे ।

४६३

आचार्यों के द्वारा बुलाए जाने पर भी शिष्य किसी भी अवस्था में मौन—चुपचाप न रहे ।

४६४

बुद्धिमान शिष्य गुरु के द्वारा एक बार या बार-बार बुलाने पर कभी भी बैठा न रहे, - किंतु आसन को छोड़ कर यत्नपूर्वक उनके आदेश को स्वीकार करे ।

४६५

विनीत शिष्य आसन पर अथवा शय्या पर बैठा हुआ, गुरु से प्रश्न न पूछे, किंतु उन के समीप जा कर उत्कटिकासन करता हुआ हाथ जोड़ कर सूत्रादि अर्थ पूछे ।

४६६

विनीत शिष्य को चाहिए कि वह गुरु की दृष्टि के अनुसार चले, उन की निस्सगता का अनुगमन करे, उन्हें हर बात में आगे रखे, उनमें श्रद्धा रखे और उन के समीप रहे ।

४६७

जो शिष्य लज्जाशील और इन्द्रिय-विजेता होता है, वह सुविनीत बनता है ।

४९८

जं मे बुद्धाणुसासन्ति, सीएण फस्सेण वा ।
मम लाभो त्ति पेहाए, पयओ तं पडिस्सुणे ॥

४९९

गुरु तु नासाययई स पुज्जो ।

५००

न या वि मोक्खो गुरु हीलणाए ।

५०१

न वाहिर परिभवे, अत्ताण न समुक्कसे ।
सुयलाभे न मज्जेज्जा, जच्चा तवस्सि बुद्धिए ॥

५०२

खलुका जारिसा जोज्जा, दुस्सीसा वि हु तारिसा ।
जोइया घम्मजाणम्मि, भज्जन्ति धिइदुव्वला ॥

५०३

वाल सम्मइ सासतो, गलियस्स व वाहए ।

५०४

रमए पडिए सास, हय भद्द व वाहए ।

५०५

मा गलियस्सेव कस, वयणमिच्छे पुणो पुणो ।

५०६

कस व दट्ठुमाडण्णे, पावग परिवज्जए ।

४९८. उक्त० १।२७

५०१ दण० ८।३०

५०४. उक्त० १।३७

४९९ दण० ९।३।२

५०२ उक्त० २७।८

५०५ उक्त० १।१२

५०० दण० ९।१।७

५०३ उक्त० १।३७

५०६ उक्त० १।१२

४६८

“गुरु कोमल अथवा कठोर शब्दों में जो शिक्षा देते हैं, उसमें मेरा हित समाहित है, मुझे ही लाभ है,” ऐसा विचार कर विनीत शिष्य अत्यन्त सावधानीपूर्वक उन की शिक्षा को ग्रहण करे।

४६९

जो गुरु की आशातना नहीं करता, वह पूज्य है।

५००

जो साधक गुरुजनो की अवहेलना करता है, वह कभी बन्धन से मुक्त नहीं हो सकता।

५०१

विनीत शिष्य किसी भी व्यक्ति का तिरस्कार न करे, और न आत्म-प्रशंसा ही करे। शास्त्र ज्ञान प्राप्त कर के भी अभिमान न करे, यहाँ तक कि जाति, तप, अथवा बुद्धि का भी अहंकार न करे।

५०२

जुते हुए अयोग्य बैल जैसे वाहन को भग्न कर देते हैं, वैसे ही दुर्बल धृतिवाले शिष्यों को धर्म-यान में जोत दिया जाता है तो वे उसे तहस-नहस कर देते हैं।

५०३

जैसे दुष्ट घोड़े को चलाते हुए उसका वाहक खिन्न होता है, वैसे ही दुर्बुद्धि—अविनीत शिष्य को शिक्षा देता हुआ गुरु खिन्नता का अनुभव करता है।

५०४

जैसे उत्तम जाति के घोड़े को हाँकते हुए उस का सवार आनन्द का अनुभव करता है, उसी प्रकार विनीत बुद्धिमान शिष्यों को शिक्षा देता हुआ गुरु प्रसन्न होता है।

५०५

जैसे दुष्ट घोड़ा चावुक की बार-बार अपेक्षा रखता है, वैसे विनीत शिष्य गुरु के वचन की बार-बार अपेक्षा न रखे।

५०६

जैसे विनीत घोड़ा चावुक को देखते ही उन्मार्ग को छोड़ देता है, वैसे ही विनीत शिष्य गुरु के इंगित और आकार को देखकर अशुभ-प्रवृत्ति को छोड़ दे।

भिक्षाचरी

५०७

जहा दुमस्स पुप्फेसु, भमरो आवियइ रस ।
ण य पुप्फ किलामेइ, सो य पीणेइ अप्पय ॥

५०८

एमे ए समणा मुत्ता, जे लोए सति साहुणो ।
विहगमा व पुप्फेसु, दाण-भत्तेसणे रया ॥

५०९

महुकारसमा बुद्धा, जे भवति अणिस्सिया ।
नाणा पिण्डरया दत्ता, तेण वुच्चति साहुणो ॥

५१०

अलाभुत्ति न सोएज्जा, तवो त्ति अहियासए ॥

५११

न चरेज्ज वासे वासते, महियाए वा पडतिए ।
महावाए व वायते, तिरिच्छसपाइमेसु वा ॥

५१२

समुयाण चरे भिक्खू, कुलमुच्चावयं सया ।
नीय कुलमडक्कम्म, ऊसढ नाभिघारए ॥

५१३

अलोले न रसे गिद्धे, जिब्भादते अमुच्छिण्ण ।
न रसट्ठाए भुजिज्जा, जवणट्ठाए महामुणी ॥

५०७ दश० ११२

५०८ दश० ११३

५०९ दश० ११५

५१० दश० ५१२।६

५११ दश० ५११।८

५१२ दश० ५१२।२५

५१३ दश० ३५१।७

भिक्षाचरी

५०७

जिस प्रकार भ्रमर वृक्ष के फूलों से थोड़ा-थोड़ा रस पीता है, किसी पुष्प को म्लान नहीं करता और अपनी आत्मा को सन्तुष्ट कर लेता है ।

५०८—५०९

उसी प्रकार लोक में जो मुक्त श्रमण—साधु है, वे दाता द्वारा दिये हुए दान, आहार एवं एषणा में रत रहते हैं, जैसे भ्रमर पुष्पों में ।

भ्रमर के समान बुद्ध पुरुष अनिश्रित होते हैं, वे किसी एक पर आश्रित नहीं होते, नानापिण्ड में रत हैं, और जो दान्त हैं, वे अपने इन्हीं गुणों के कारण साधु कहलाते हैं ।

५१०

भिक्षु को यदि मर्यादानुसार निर्दोष भिक्षा न मिले तो शोक न करे, किन्तु “सहज ही तप होगा” ऐसा मानकर क्षुधा आदि परीपहों को सहन करे ।

५११

वर्षा बरस रही हो, कुहरा छा रहा हो, आँधी चल रही हो और मार्ग में जीव-जन्तु उड़ रहे हो, ऐसी स्थिति में साधु भिक्षा के लिए अपने स्थान से बाहर न निकले ।

५१२

साधु सदा समुदान (धनवान और गरीब घरों की) भिक्षा करे, वह निर्धन कुल का घर समझ कर, उसे टालकर धनवान के घर न जाय ।

५१३

अलोलुप, रस में अगृह्य, जीभ का दमन करनेवाला, अमूर्च्छित महामुनि रसनेन्द्रिय के पोषण के लिए न खाए, बल्कि जीवन-निर्वाह के लिए आहार करे ।

५१४

नाइ उच्चे व नीए वा, नासन्ने नाइदूरओ ।
फासुयं परकड पिण्ड, पडिगाहेज्जसजए ॥

५१५

साण सूइअ गाविं, दित्त गोणं हय गय ।
सडिम्भ कलह जुद्ध, दूरओ परिवज्जए ॥

५१६

से गामे वा नगरे वा, गोयरग्गओ मुणी ।
चरे मन्दमणुव्विग्गो, अविक्खित्तेण चेयसा ॥

५१७

एसणासमिओ लज्जू, गामे अणियओ चरे ।
अप्पमत्तो पमत्तेहिं, पिण्डवाय गवेसए ॥

५१८

अह कोइ न इच्छेज्जा, तओ भुजिज्ज एक्कओ ।
आलोए भायणे साहू, जय अप्परिसाडयं ॥

५१९

असण पाणग वावि, खाइम साइम तहा ।
जं जाणिज्ज सुणिज्जा वा, दाणट्ठा पगडं इम ।

५२०

तारिसं भत्तपाण तु सजयाण अकप्पियं ।
दित्ति पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिस ॥

५२१

अलद्धुयं नो परिदेवएज्जा,
लद्धु न वित्थयई स पुज्जो ।

५१४ उक्त० १।३४

५१५ दश० ५।१।१२

५१६ दश० ५।१।२

५१७ उक्त० ६।१७

५१८ दश० ५।१।६६

५१९ दश० ५।१।४७

५२० दश० ५।१।४८

५२१ दश० ६।३।४

५१४

गृहस्थ के घर में जाकर समयी न अति ऊँचे से, न अति नीचे से, न अति समीप से और न अति दूर से प्रासुक—अचित और परकृत—दूसरो के निमित्त बना हुआ पिण्ड—आहार को ग्रहण करे ।

५१५

जहाँ श्वान हो, तत्काल प्रसूता गाय हो उन्मत्त साड, हाथी अथवा घोडा हो, या जिस स्थान पर बालक खेल रहे हो, कलह हो रहा हो, युद्ध मच रहा हो, वहाँ साधु पुरुष को नहीं जाना चाहिए, बल्कि दूर से ही उसे त्याग देना चाहिये ।

५१६

गाँव में अथवा नगर में भिक्षा के लिए गया हुआ मुनि उद्वेगरहित बन कर शांत चित्त से धीरे-धीरे चले ।

५१७

समयी साधक एषणा समिति का पालन करता हुआ गाँव में अनियत-वृत्ति से अप्रमत्त हो कर गृहस्थो के घरों से गोचरी (भिक्षा) की गवेपणा करे ।

५१८

आमन्त्रण देने के पश्चात् कोई साधु आहार का इच्छुक न हो तो उक्त साधु अकेला ही चौड़े मुखवाले प्रकाशयुक्त पात्र में (भाजन) वस्तु नीचे न गिरे इस पद्धति से यतना-विवेक पुरस्सर आहार ग्रहण करे ।

५१९—५२०

जिस आहार, जल, खाद्य, स्वाद्य के विषय में जो साधु इस प्रकार जान जाय अथवा सुन ले कि यह दान के लिए, पुण्य के लिए याचको के लिए है, तो वह भक्त-पान उसके लिए अकल्पनीय होता है । अतः उस दाता को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार-पानी मेरे लिये अकल्पनीय है ।

५२१

भिक्षा न मिलने पर जो खेद प्रकट नहीं करता और मिलने पर प्रशंसा नहीं करता वह पूज्य है ।

५२२

महुघय व भुजिज्ज सजए ।

५२३

न रसट्ठाए भुजिज्जा, जवणट्ठाए महामुणी ।

५२४

भारस्स जाआ मुणि भुज्जएज्जा ।

५२५

पक्खी पत्तं समादाय, निरवेक्खो परिव्वए ।

५२२

सरस या नीरस-जैसा भी आहार समय पर उपलब्ध हो जाय, साधक उसे 'मधु-घृत' की तरह प्रसन्न चित्त से खाए ।

५२३

मुनि स्वाद के लिए न खाए, बल्कि जीवन निर्वाह के लिए खाए ।

५२४

मुनि सयमभार के निर्वाह करने के लिए ही आहार ग्रहण करे ।

५२५

सयमी मुनि पक्षी की भाँति कल की अपेक्षा न रखता हुआ पात्र लेकर भिक्षा के लिए परिभ्रमण करे । ●

इन्द्रिय-निग्रह

५२६

चरेज्ज भिक्खू सुसमाहि इदिए ।

५२७

इदियाइ वसेकाउ, अप्पाण उवसहरे ।

५२८

कुजए अपराजिए जहा,
अक्खेहि कुसलेहि दीवयं ।
कडमेव गहाय नो कलिं,
नो तीयं नो चेव दावरं ॥

५२९

एव लोगम्मि ताइणा, बुडए जे धम्मे अणुत्तरे ।
त गिण्ह हियति उत्तम, कडमिव सेस वहाय पण्डिए ॥

५३०

न रागसत्तू धरिसेइ चित्तं,
पराइओ वाहिरिवोसहेहि ।

५२६ उत्त० २१।१३ ५२७ उत्त० २२।४८ ५२८ सूत्र० १।२।२।२३
५२९ सूत्र० १।२।२।२४ ५३०. उत्त० ३२।१२

इन्द्रिय-निग्रह

५२६

भिक्षु सर्व इन्द्रियो को सुसमाहित करता हुआ विचरण करे ।

५२७

पाँच इन्द्रियो को वश मे कर अपनी आत्मा का उपसहार करना चाहिए । अर्थात् प्रमाद की ओर बढ़ती हुई आत्मा को पीछे हटा कर धर्मपथ पर स्थिर करनी चाहिए ।

५२८—५२९

जुआ खेलने मे निपुण जुआरी जैसे “कृत” नामवाले पाशे को ही अपनाता है, ‘कलि’ ‘द्वापर’ और ‘त्रेता’ को नहीं, और अपराजित रहता है । वैसे ही पण्डित पुरुष भी इस लोक मे जगन्नाता सर्वज्ञो ने जो उत्तम और अनुत्तर धर्म कहा है उसे ही अपने हितके लिए ग्रहण करे । शेष सभी धर्म-इन्द्रिय विषयो को उसी प्रकार छोड़ दे जिस तरह कुशल जुआरी ‘कृत’ के अतिरिक्त अन्य सभी पाशो को छोड़ देता है ।

५३०

जिस प्रकार उत्तम जाति की औषधि रोग को नष्ट कर देती है, पुन उभरने नहीं देती । उसी प्रकार जितेन्द्रिय पुरुष के चित्त को राग तथा विषय रूपी कोई शत्रु सता नहीं सकता । ●

मनोनिग्रह

५३१

मणो साहस्सिओ भीमो, दुट्ठस्सो परिधावई ।

५३२

एगे जिए जिया पच्च, पच्च जिए जिया दस ।
दसहा उ जिणित्ताण, सव्वसत्तू जिणामह ॥

५३३

सरम्भसमारम्भे, आरम्भे य तहेव य ।
मणं पवत्तमाण तु, नियत्तेज्ज जय जई ॥

५३४

मणगुत्तयाए ण जीवे एगग्ग जणयइ ।

५३५

एगग्गचित्ते ण जीवे मणगुत्ते सजमाराहए भवइ ।

५३६

जोग सच्चेण जोग विसोहेइ ।

५३७

जे इदियाण विषया मणुत्ता, न तेसु भाव निसिरे कयाइ ।

५३८

समाए पेहाए परिव्वयतो,
सिया मणो निस्सरई वहिद्धा ।
न सा मह नोवि अह वि तीसे,
इच्चेव ताओ विणएज्ज राग ॥

५३१ उक्त० २३।५८

५३२ उक्त० २३।३६

५३३ उक्त० २४।२१

५३४. उक्त० २६।५३

५३५. उक्त० २६।५३

५३६ उक्त० २६।५२

५३७ उक्त० ३२।२१

५३८ दश० २।४

मनोनिग्रह

५३१

मन एक साहसिक, भयकर और दुष्ट घोड़े के समान है, जो चारों तरफ दौड़ता रहता है ।

५३२

एक को जीत लेने पर पाँच जीते गए, पाँचों को जीत लेने पर दस जीते गए, दसों को जीत कर मैंने सभी शत्रुओं को जीत लिए हैं ।

५३३

सयमशील मुनि सरम्भ, समारम्भ और आरम्भ में प्रवर्तमान मन को निवृत्त करे अर्थात् उसकी प्रवृत्ति को रोके ।

५३४

मनोगुप्तता से जीव एकाग्रता को प्राप्त होता है ।

५३५

एकाग्र-चित्त वाला जीव अशुभसकल्पो से मन की रक्षा करनेवाला तथा सयम की सम्यग् आराधना करनेवाला होता है ।

५३६

योग सत्य से जीव मन, वचन और काया की प्रवृत्ति को विशुद्ध करता है ।

५३७

इन्द्रियो के सुमनोज्ञ विषयो में मन को कभी भी सलग्न न करे ।

५३८

समदृष्टिपूर्वक सयम यात्रा में विचरण करते हुये भी यदि कदाचित् सयमी पुरुष का मन सयममार्ग से विचलित होने लगे तो उस समय उसे यह विचार करना चाहिए कि "यह मेरी नहीं है और न मैं ही उनका हूँ ।" इस प्रकार सुविचार के अकुश से मन में उत्पन्न क्षणिक आसक्ति को दूर करे ।



श्रावक-धर्म

५३६

गार पि य आवसे नरे, अणुपुव्व पाणेहिं सजए ।
सामत सव्वत्थ सुव्वए देवाण गच्छे स लोगयं ॥

५४०

धम्मणेणं चेव वित्ति कप्पेमाणा विहरति ।

५४१

चत्तारि समणोवासगा—

अद्दागसमाणे, पडागसमाणे ।
खाणुसमाणे, खरकटसमाणे ।

५४२

अयमाउसो । निग्गथे पावयणे अट्ठे,
अय परमट्ठे, सेसे अणट्ठे ।

५४३

उस्सिय फलिहा, अवगुय-दुवारा,
चियत्ततेउर - परघरपवेसा ।

५४४

अगारि सामाइयगाइं, सड्ढी काएण फासए ।
पोसह दुहओ पक्ख, एगराय न हावए ॥

५३६. सूत्र० १।२।३।१३

५४० सूत्र० २।२।३६

५४१. स्थान० ४।३

५४२. उव० ६।६

५४३. उव० ५।५

५४४ उत्त० ५।२३

श्रावक-धर्म

५३६

जो पुरुष अपने घर में निवास करता हुआ भी श्रावक धर्म का पालन करता है, तथा प्राणातिपात आदि हिंसा से निवृत्त होता हुआ सर्व प्राणियों के प्रति समभाव रखता है वह देवलोक को प्राप्त होता है ।

५४०

सद्गृहस्थ सदा धर्मानुकूल ही अपनी आजीविका करते हैं ।

५४१

श्रमणोपासक की चार कोटियाँ हैं—

दर्पण के समान—स्वच्छ हृदयवाला ।

पताका के समान—अस्थिर हृदयवाला ।

स्थाणु के समान—मिथ्याग्रही ।

तीक्ष्ण कटक के समान—कटुभाषी ।

५४२

हे आयुष्मन् ! यह निर्ग्रन्थ प्रवचन ही अर्थ रूप है, और यही परमार्थ है । अन्य सभी निस्सार हैं ।

५४३

जिसका हृदयस्फटिक रत्न के समान निर्मल, दानादि लोक सेवा के लिए उदार चित्तवाला है और जिसके घर का द्वार सदा खुला रहता है । राजमवन से लेकर साधारण घरो तक वह निःशक होकर प्रवेश कर सकता है । ऐसा प्रतीतिमय (विश्राम योग्य) श्रावक का जीवन होता है ।

५४४

श्रद्धाशील अगारी—गृहस्थ सामायिक के अगो का काया से सम्यक् रूप से पालन करे । दोनों पक्षों में किये जाने वाले पौषध को एक दिन रात के लिए भी न छोड़े ।

५४५

सामाइएण सावज्जजोगविरइ जणयइ ।

५४६

चउव्वीसत्थएण दसणविसोहिं जणयइ ।

५४७

वन्दणएण नीयागोय कम्म खवेइ ।
उच्चागोयं कम्म निबधइ ॥

५४८

पडिक्कमणेण वयछिद्दाइ पिहेइ ।

५४९

काउस्सग्गेण तीयपडुप्पन्न पायच्छित्त विसोहेइ ।

५५०

पच्चक्खाणेण आसवदाराइं निरुम्भइ ।

५५१

जस्स सामाणिओ अप्पा, सजमे णिअमे तवे ।
तस्स सामाइय होइ, इइ केवलिभासिअ ॥

५५२

जो समो सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु अ ।
तस्स सामाइय होइ, इइ केवलिभासिअ ॥

५५३

सज्झाए वा निउत्तेण, सव्वदुक्खविमोक्खणे ।

५४५ उक्त० २६।८

५४८ उक्त० २६।११

५५१. अनु० १२७

५४६ उक्त० २६।९

५४९ उक्त० २६।१२

५५२ अनु० १२८

५४७. उक्त० २६।१०

५५०. उक्त० २६।१३

५५३ उक्त० २६।१०

५४५

सामायिक से जीव सावद्ययोग से विरति-निवृत्ति का उपार्जन करता है ।

५४६

चतुर्विंशति-स्तव से जीव सम्यक्त्व की विशुद्धि को प्राप्त होता है ।

५४७

वन्दना से जीव नीच कुल में उत्पन्न होने जैसे कर्मों को क्षीण करता है । और ऊँचे कुल में उत्पन्न करनेवाले कर्म का अर्जन करता है ।

५४८

प्रतिश्रमण से जीव व्रत के छिद्रों को रोक देता है ।

५४९

कायोत्सर्ग से जीव अतीत और वर्तमान के अतिचारों की विशुद्धि करता है ।

५५०

प्रत्याख्यान से जीव आश्रय द्वार का निरोध करता है ।

५५१

जिस साधक की आत्मा समय में, नियम में, तथा तप में तल्लीन है, उसी की वास्तविक सामायिक है । ऐसा केवली भगवन्त ने फरमाया है ।

५५२

जो साधक ब्रह्म और स्थावर सभी प्राणियों के प्रति समभाव रखता है, उसी की वास्तविक सामायिक है । ऐसा केवली भगवन्त ने फरमाया है ।

५५३

स्वाध्याय करते रहने से समस्त दुःखों से मुक्ति प्राप्त होती है । ●

ब्राह्मण कौन ?

५५४

कम्मुणा वभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ ।
वइसो कम्मुणा होइ, सुद्धो हवइ कम्मुणा ॥

५५५

कोहा वा जइ वा हासा, लोहा वा जइ वा भया ।
मुस न वयई, जोउ, त वय वूम माहणं ॥

५५६

जो न सज्जइ आगंतु, पव्वयतो न सोयई ।
रमइ अज्ज-वयणम्मि, त वय वूम माहण ॥

५५७

चित्तमतमचित्त वा अप्प वा जइ वा बहु ।
न गिण्हेइ अदत्त जे, त वयं वूम माहण ॥

५५८

दिव्व-माणुसतेरिच्छ, जो न सेवइ मेहुण ।
मणसा काय-वक्केण, त वय वूम माहण ॥

५५९

जहा पोम्म जले जाय, नोवलिप्पइ वारिणा ।
एवं अलित्त कामेहि, त वय वूम माहणं ॥

५६०

वभचरेण वभणो ।

५५४ उत्त० २५।३१

५५५. उत्त० २५।२३

५५६ उत्त० २५।२०

५५७ उत्त० २५।२४

५५८. उत्त० २५।२५

५५९ उत्त० २५।२६

५६०. उत्त० २५।३०

ब्राह्मण कौन ?

५५४

मनुष्य कर्म से ही ब्राह्मण होता है, कर्म से ही क्षत्रिय होता है, कर्म से ही वैश्य होता है और कर्म से ही शूद्र होता है ।

५५५

जो क्रोध, हास्य, लोभ अथवा भय आदि किसी भी अशुभ सकल्प से असत्य नहीं बोलता उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ।

५५६

जो आनेवाले स्नेहीजनो में आसक्त नहीं होता और जाने पर शोक नहीं करता । जो सदा आर्य वचनो में रमण करता है । उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ।

५५७

जो सचित्त या अचित्त कोई भी पदार्थ थोड़ा या ज्यादा कितना ही क्यों न हो, स्वामी के दिये बिना चोरी से नहीं लेता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ।

५५८

जो देव, मनुष्य और तिर्यंच सम्बन्धी मैथुनभाव का मन, वचन और काया से कभी सेवन नहीं करता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ।

५५९

जिस प्रकार जल में उत्पन्न हुआ कमल जल से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार काम-मोग के वातावरण में उत्पन्न हुआ जो मनुष्य उससे लिप्त नहीं होता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ।

५६०

ब्रह्मचर्य के पालन से ब्राह्मण होता है ।



५६१

तवस्सिय किस दन्त, अवचियमससोणियं ।
सुव्वय पत्तनिव्वाण, त वय वूम माहण ॥

५६२

अलोलुय मुहाजीवि, अणगारं अकिचणं ।
अससत्त गिहत्थेसु, त वय वूम माहण ॥

५६३

जायरूव जहामट्ठ, निद्धन्तमल-पावग ।
राग-दोस-भयाईय, त वयं वूम माहण ॥

५६४

तसपाणे वियाणेत्ता, सगहेण य थावरे ।
जो न हिंसइ तिविहेण, त वय वूम माहण ॥



५६१

जो तपस्वी कृश और इन्द्रियो का दमन करनेवाला है, जिसके माँस और रूधिर का अपचय हो चुका है, जो व्रतशील व शान्त है, उसको हम ब्राह्मण कहते हैं ।

५६२

जो मनुष्य लोलुप नहीं है, जो निर्दोष भिक्षावृत्ति से निर्वाह करता है, जो गृह-त्यागी है, अकिंचन है, गृहस्थो में अनासक्त है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ।

५६३

जो अग्नि में तपाकर शुद्ध किये हुए और धिसे हुए सोने की तरह विशुद्ध है तथा राग-द्वेष भय आदि दोषों से रहित है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ।

५६४

जो त्रस और स्थावर जीवों को संक्षेप और विस्तार से भली-भाँति जानकर मन, वाणी और शरीर से उसकी हिंसा नहीं करता उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ।

क्षमा

५६५

खामेमि सव्वेजीवा, सव्वे जीवा खमतु मे ।
मेत्ती मे सव्वभूएसु, वेर मज्झ न केणइ ॥

५६६

आयरिय-उवज्झाए, सीसे साहम्मिए कुल-गणेय ।
जे जे केइ कसाया, सव्वे तिविहेण खामेमि ॥

५६७

सव्वस्स समण सघस्स, भगवओ अजलि करिअसीसे ।
सव्वे खमावइत्ता, खमामि सव्वस्स अहय पि ॥

५६८

सव्वस्स जीवरासिस्स, भावओ घम्मनिहिअचित्तो ।
सव्वे खमावइत्ता, खमामि सव्वस्स अहय पि ॥

५६९

पुढविसमो मुणी हवेज्जा ।

५७०

खमावणयाए ण पल्हायणभावं जणयइ ।

५७१

जस सचिणु खतिए ।

५७२

खतिएणं जीवे परिसहे जिणइ ।

५७३

हम्ममाणो न कुप्पेज्जा, वुच्चमाणो न सजले ।

५७४

खतिं सेविज्ज पडिए ।

५७५

पियमप्पिय सव्वतितिवखएज्जा ।

५६५ पच प्रति०

५६८ पच प्रति०

५७१ उक्त० ३।१३

५७४ उक्त० १।९

५६६. पच प्रति०

५६९. दश० १०।१३

५७२. उक्त० २९।४६

५७५ उक्त० २१।१५

५६७. पच प्रति०

५७०. उक्त० २९।१७

५७३ सूत्र० ९।३१

क्षमा

५६५

मैं समस्त जीवों से क्षमा माँगता हूँ और सब जीव मुझे भी क्षमा प्रदान करें। मेरी सर्व जीवों के साथ मैत्री है, किसी के भी साथ मेरा वैर-विरोध नहीं है।

५६६

आचार्य, उपाध्याय, शिष्यगण और साधर्मिक बन्धुओं तथा कुल और गण के ऊपर मैंने जो भी कपाय-भाव किये हों, उनके लिए मैं मन, वचन और काय से क्षमा माँगता हूँ।

५६७

मैं नतमस्तक होकर समस्त पूज्य श्रमणसभ से अपने सर्व अपराधों की क्षमा माँगता हूँ। और उनके प्रति मैं भी क्षमामाव रखता हूँ।

५६८

धर्म में स्थिर चित्त होकर मैं सद्भावपूर्वक सर्व जीवों से अपने अपराधों की क्षमा माँगता हूँ, और उनके सब अपराधों को मैं भी सद्भावपूर्वक क्षमा करता हूँ।

५६९

मुनि को पृथ्वी के समान क्षमाशील होना चाहिए।

५७०

क्षमापना से आत्मा में अपूर्व हर्षानुभूति प्रगट होती है।

५७१

क्षमा से यश का (सयम) का सचय करें।

५७२

क्षमा से जीव परीषद्‌ओं पर विजय प्राप्त कर लेता है।

५७३

साधक पुरुष पीटने पर क्रोध न करे तथा गाली आदि देने पर द्वेष न करे।

५७४

पण्डित पुरुष को क्षमा धर्म की आराधना करनी चाहिए।

५७५

साधक प्रिय, अप्रिय सब शक्तिपूर्वक सहन करे।

मृत्यु-कला

५७६

सेणे जहा वट्टयं हरे, एव आउखयम्मि तुट्टई ।

५७७

माणुस्स च अणिच्च, वाहि जरामरणवेयणापउर ।

५७८

जस्सत्थि मच्चुणा सक्ख, जस्स वऽत्थि पलायण ।
जो जाणे न मरिस्सामि, सो हु कखे सुए सिया ॥

५७९

अज्झवसाणनिमित्ते, आहारे वेयणा पराघाते ।
फासे आणापाणू, सत्तविह भज्जए आउं ॥

५८०

सत्थग्गहण विसभक्खण च,
जलण च जल पवेसो य ।
अणायारभडसेवा,
जम्मण मरणाणि वधति ॥

५८१

न सतसति मरणते, सीलवता बहुस्सुया ।

५८२

काल अणवकखमाणे विहरइ ।

५७६ मूत्र० १।२।१।२ ५७७ औप० ३४ ५७८ उत्त० १४।२७
५७९. स्या० ७ ५८० उत्त० ३६।२६७ ५८१ उत्त० ५।२९
५८२. उपा० १।७३

मृत्यु-कला

५७६

जैसे बाज पक्षी तीतर को एक ही झपाटे में मार डालता है, ठीक वैसे ही आयु क्षीण होने पर मृत्यु भी मनुष्य के प्राण हर लेता है ।

५७७

मनुष्य देह अनित्य—क्षण भगुर है, तथा व्याधि-जरा-मरण और वेदना से पूर्ण है ।

५७८

जिम की मृत्यु के साथ मंत्री हो, जो मृत्यु के मुख से भाग सकता हो, तथा जो यह जानता हो कि मैं नहीं मरूँगा, वही कल की इच्छा कर सकता है ।

५७९

जीव मात कारणों से अकाल-मृत्यु को प्राप्त होता है—हार्दिक भावना के आघात से, शस्त्रादि के प्रहार से, अधिक आहार की मात्रा से, वेदना की अभिवृद्धि से, गडढे आदि में गिरने से, कठोर वस्तु की सख्त चोट से, और श्वासोच्छ्वास के अवरुधन से ।

५८०

जो शस्त्र के द्वारा, विष-भक्षण द्वारा, अग्नि में प्रविष्ट होकर या पानी में कूदकर आत्म-हत्या करता है और मर्यादा से अधिक उपकरण रखता है, वह जन्म-मरण की परम्परा बढ़ानेवाला होता है ।

५८१

शीलवान और बहुश्रुत भिक्षु मृत्यु के क्षणों में भी सन्नस्त नहीं होते ।

५८२

आत्मार्थी साधक कष्टों से जूझता हुआ मृत्यु से अनपेक्ष वन कर रहे ।

५८३—५८४

सन्तिमे य दुवे ठाणा, अक्खाया मारणन्तिया ।
 अकाममरण चेव, सकाम मरण तहा ॥
 वालाण अकाम, तु, मरण असड भवे ।
 पण्डियाण सकाम तु, उक्कोसेण सड भवे ॥

५८५

न य सखयमाहु जीविय ।

५८६

जहा सागडिओ जाण, सम हिच्चा भहापह ।
 विसम मग्गमोडण्णो, अवखे भग्गम्म सोयई ॥

५८७

एव धम्म विउक्कम्म, अहम्म पडिवज्जिया ।
 वाले मच्चुमुह पत्ते, अक्ख भग्गे य सोयई ॥

५८८

वालमरणाणि बहुसो, अकाममरणाणि चेव बहुयाणि ।
 मरिहति ते वराया, जिणवयण जे न जाणति ॥

५८९

मरण हेच्च वयति पडिया ।

५९०

माराभिसकी मरणा पमुच्चइ ।

५९१

दुविह पि विडत्ताण, बुद्धा धम्मस्स पारगा ।
 अणुपुव्वीए सखाए, आरभाओ तिउट्टइ ॥

५९२

ज किंचुवक्कम जाणे, आउखेमस्समप्पणो ।
 तस्सेव अतरद्धाए, खिप्प सिक्खिज्ज पडिए ॥

५८३. उक्त० ५।२

५८४ उक्त० ५।३

५८५ सूत्र० १।२।३।१०

५८६ उक्त० ५।१४

५८७ उक्त० ५।१५

५८८. उक्त० ३६।२६१

५८९ सूत्र० १।२।३।१

५९० आचा० १।३।१

५९१. आचा० १।८।८।१

५९२ आचा० १।८।८।६

५८३—५८४

तत्त्वज्ञ पुरुषो ने मरण के दो स्थान कहे हैं—एक अकाम-मरण और दूसरा सकाम-मरण ।

अज्ञानी बाल जीवों के अकाम मरण अनेक बार होता है, किन्तु पण्डितों के सकाम मरण उत्कर्षतः एक बार ही होता है ।

५८५

जीवन-धागा टूट जाने पर पुनः जुड़ नहीं पाता ।

५८६—५८७

जैसे कोई गाड़ीवान समतल राजपथ को जानता हुआ भी उसे छोड़कर विपम-दुरूह मार्ग से चल पड़ता है और गाड़ी की धुरी टूट जाने के पश्चात् शोकाकुल होता है ।

इसी प्रकार धर्म का सुमार्ग छोड़ कर अधर्म के कुमार्ग को स्वीकार कर मृत्यु के मुख में पड़ा हुआ अज्ञानी धुरी टूटे हुए गाड़ीवान की तरह शोकाकुल बनता है ।

५८८

जो जीव जिन-वचनों से परिचित नहीं हैं, वे अभाग्य अनेकानेक बाल-मरण तथा अकाम-मरण करते रहते हैं ।

५८९

पण्डित पुरुष ही मृत्यु की दुर्दम सीमा को लाघकर अविनाशी पद को प्राप्त होते हैं ।

५९०

जो व्यक्ति मृत्यु से सदा सतर्क रहता है वही उस से मुक्ति पा सकता है ।

५९१

धर्म परायण बुद्धिमान साधक बाह्य और आभ्यन्तर तप का आचरण कर अनुक्रम से शरीर त्याग के अवसर को जान-कर सलेखना को स्वीकार कर के शरीर पोषण रूप-आरम्भ का परित्याग कर देते हैं ।

५९२

सलेखना में स्थित मुनि को यदि अपने जीवन का अन्त करनेवाले किसी विघ्न का ज्ञान हो जाए तो उस बुद्धिमान मुनि को सलेखना काल में ही शीघ्र भक्त-परिज्ञा आदि का अनुष्ठान कर लेना चाहिए ।

कषाय

५६३

कोहो य माणो य अणिग्गहीया,
माया य लोभो य पवड्ढमाणा ।
चत्तारि एए कसिणा कसाया,
सिंचति मूलाइं पुणब्भवस्स ॥

५६४

अहे वयन्ति कोहेण, माणेण अहमागई ।
माया गइपडिग्घाओ, लोहाओ दुहाओ भय ॥

५६५

दुक्ख हय जस्स न होइ मोहो,
मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा ।
तण्हा हया जस्स न होइ लोहो,
लोहो हओ जस्स न किंचणाइ ॥

५६६

कसाया अग्गिणो वुत्ता, सुय सील तवो जल ।

५६७

कोहा-इ-माण हणियाय वीरे ।
लोभस्स पासे निरय महत्त ॥

५६८

कोह माण च माय च, लोभ च पाववड्ढण ।
वमे चत्तारि दोसे उ, इच्छन्तो हियमप्पणो ॥

५६३ दश० ८१४०

५६४ उत्त० ११५४

५६५ उत्त० ३२१८

५६६. उत्त० २३१५३

५६७. आचा० ३१२११

५६८ दश० ८१३७

कषाय

५८३

अनिगृहीत क्रोध और मान तथा बढ़ते हुए माया और लोभ—ये चारो ही कुत्सित कषाय पुनर्जन्म-रूपी वृक्ष की जड़ो का सिंचन करते हैं ।

५८४

क्रोध से जीव नीचे गिरता है, मान से जीव नीचे गति पाता है, माया से जीव की सद्गति का नाश होता है और लोभ से जीव के लिए इस लोक और परलोक में भय उत्पन्न होता है ।

५८५

जिसके मोह नहीं है, उसने दुःख का नाश कर दिया । जिसके तृष्णा नहीं है उसने मोह का नाश कर दिया । जिसके लोभ नहीं है उसने तृष्णा का नाश कर दिया । जिस के पास लोभ करने जैसा कुछ भी पदार्थ संग्रह नहीं है उसने लोभ का नाश कर दिया ।

५८६

कषाय-क्रोध, मान, माया और लोभ को अग्नि कहा है, उस को बुझाने के लिए श्रुत, शील और तप यह जल है ।

५८७

वीर ! क्रोध, मान, माया आदि विकारो का विनाश कर डालो, जिस में भी लोभ का फल अति दारुण है । अतः उनके परिणामो पर विचार करो ।

५८८

जो मनुष्य अपना हित चाहता है, वह पाप बढ़ानेवाले क्रोध, मान, माया और लोभ इन आत्मघातक दोषो को सदा के लिए त्याग दे ।

५९९

कोह च माण च तहेव माय,
लोभं चउत्थ अज्झत्थदोसा ।

६००

जे एग नामे से बहु नामे,
जे बहु नामे से एग नामे ।

६०१

रक्खेज्ज कोह विणएज्ज माण,
माय न सेवे पयहेज्ज लोह ।

६०२

कसायपच्चक्खाणेण वीयरोगभाव जणयइ ।

६०३

चउक्कसायावगए स पुज्जो ।

६०४

जे गुणे से मूलट्टाणे, जे मूलट्टाणे से गुणे ।

६०५

न विरुज्झेज्ज केणइ ।

६०६

जो उवसमइ तस्स अत्थि आराहणा ।

.

५९९ सूत्र० १।६।२६

६०२. उत्त० २९।३६

६०५ सूत्र० १५।१३

६००. आचा० ३।४

६०३ दश० ६।३।१४

६०६. वृहत्कल्प० १।३५

६०१ उत्त० ४।१२

६०४. आचा० २।१

५६६

क्रोध, मान, माया और लोभ ये चारो अन्तरात्मा के भयकर दोष हैं ।

६००

जो एक कषाय को नमाता है, जीतता है, वह मिथ्यात्वादि अनेक दोषो को जीत लेता है, और जो अनेको को जीत लेता है, वह एक कषाय को जीत लेता है ।

६०१

क्रोध का निवारण करे, मान को दूर करे, माया का सेवन न करे, लोभ को त्यागे ।

६०२

कषाय-प्रत्याख्यान-(त्याग) से जीव वीतराग-भाव को प्राप्त होता है ।

६०३

जो चार कषाय से रहित है, वह पूज्य है ।

६०४

जो गुण है वही मूलस्थान अर्थात् कषाय है, और जो कषाय हैं, वही गुण अर्थात् विषय-वासना है ।

६०५

किसी के भी साथ वैर-विरोध मत रखो ।

६०६

जो कषाय का उपशम करता है, वही वीतराग प्रभु के पथ का सच्चा आराधक होता है ।

क्रोध

६०७

पव्वयराइसमाण कोह् अणुपविट्ठे जीवे,
काल करेइ णेरइएसु उववज्जति ।

६०८

कुद्धो सच्च सील विणय हणेज्ज ।

६०९

अप्पाण पि न कोवए ।

६१०

कोहो पीइ पणासेइ ।

६११

उवसमेण हणे कोह ।

६१२

इमं णिरुद्धाउय सपेहाए,
दुक्ख य जाण अदु आगमेस्स,
पुढो फासाइ या फासे,
लोय य पास विफदमाण ।

६१३

विगिच कोह् अविकपमाणे ।

६०७ स्वा० ४।२

६०८ प्रश्न० २।२

६०९, उत्त० १।४०

६१०, दश० ८।३८

६११, दश० ८।३९

६१२ आचा० ४।३।१३६

६१३ आचा० ४।३।१३५

क्रोध

६०७

पर्वत की दरार के सदृश जीवन में कभी नहीं मिटनेवाला उग्र क्रोध आत्मा को नरक गति की ओर ले जाता है ।

६०८

क्रोधान्ध व्यक्ति सत्य, शील, और विनय का विनाश कर डालता है ।

६०९

अपने आप पर भी कभी क्रोध न करे ।

६१०

क्रोध प्रीति का नाश करता है ।

६११

शान्ति से क्रोध को जीतें ।

६१२

क्रोध मनुष्य की आयु को नष्ट करता है तथा क्रोध से मानसिक दुःख होता है । क्रोधी मनुष्य पापकर्म को बाध कर नरक में जाता है और वहाँ नाना प्रकार के दुःखों को भोगता है, यह समझकर क्रोध का त्याग करना चाहिए ।

६१३

आत्मसाधक—कम्परहित होकर क्रोधादि कषाय को नष्ट कर के कर्मरूपी काष्ठ को जला डालता है ।

६१४

चउहि ठाणेहि कोहुप्पत्ति सिया,
 त जहा—खेत्तंपडुच्च,
 वत्थुपडुच्च, सरीरपडुच्च,
 उवहिंपडुच्च ।

६१५

चउपइट्ठिए कोहे पण्णत्ते,
 त जहा—आयपइट्ठिए,
 परपइट्ठिए, तदुभयपइट्ठिए,
 अप्पइट्ठिए ।

६१६

नो कुज्झे नो माणे ।

६१७

जे कोहदसी से माणदसी ।

६१४

क्रोध उत्पन्न होने के चार कारण—

- १—क्षेत्र—नरकादि आश्रित । २—वस्तु—घर अथवा सचित्त-
अचित्त मिश्र वस्तु आश्रित । ३—शरीर—कुरूपादि आश्रित ।
- ४—उपधि—उपकरण आश्रित ।

६१५

क्रोध के चार प्रकार—

- १—आत्म-प्रतिष्ठित—अपनी भूल पर होनेवाला ।
- २—पर-प्रतिष्ठित—दूसरे के निमित्त से होनेवाला ।
- ३—तदुभय-प्रतिष्ठित—दोनों के निमित्त से होनेवाला ।
- ४—अप्रतिष्ठित—निमित्त के बिना उत्पन्न होनेवाला ।

६१६

आत्मार्थी साधक को क्रोध-मान नहीं करना चाहिए ।

६१७

जिसके हृदय में क्रोध है, उसके हृदय में मान भी अवश्य है ।

मान

६१८

सेलथंभ समाण माण अणुपविट्ठे जीवे,
कालं करेड णेरइएसु उववज्जति ॥

६१९

पन्नामय चेव तवोमय च, निन्नामए गोयमय च भिक्खू ।
आजीवग चेव चउत्थमाहु, से पण्डिए उत्तमपोग्गले से ॥

६२०

अन्न जण पस्सइ विम्बभूय ।

६२१

अन्न जण खिसइ वालपन्ते ।

६२२

वालजणो पगव्भई ।

६२३

माणविजएण मट्ठव जणयइ ।

६२४

उन्नयमाणे य नरे, महामोहे पमुज्झई ।

६१८ स्था० ४।२ ६१९ सूत्र० १।१३।१५ ६२० सूत्र० १।१३।८
६२१. सूत्र० १।१३।१४ ६२२ सूत्र० १।११।२ ६२३ उत्त० २६।६८
६२४. आचा० ५।४

मान

६१८

पत्थर के खभे के समान जीवन में कभी नहीं झुकनेवाला अभिमान आत्मा को नरकगति की ओर ले जाता है ।

६१९

प्रज्ञा-मद, तप-मद, गौत्र-मद, और आजीविका-मद—इन चार प्रकार के मदों को नहीं करनेवाला निस्पृह भिक्षु सच्चा पण्डित और पवित्रात्मा होता है ।

६२०

गर्वशील आत्मा अपने गर्व में चूर हो कर दूसरो को सदा विम्बभूत-परछाई के समान तुच्छ मानता है ।

६२१

जो अपनी बुद्धि के अहंकार में दूसरो की उपेक्षा करता है, वह मन्द-बुद्धि है ।

६२२

अहंकार करना अज्ञानी का द्योतक है ।

६२३

मान को जीतने से जीव को नम्रता की प्राप्ति होती है ।

६२४

अहंकार करता हुआ मनुष्य महामोह से विवेक शून्य होता है ।

६२५

बुद्धामो त्ति य मन्नता, अतए ते समाहिए ।

६२६

जे माणदसी से मायादसी ।

६२७

माणो विणयनासणो ।

६२८

माण महवया जिणे ।

६२९

न तस्स जाई व कुलं व ताण,
नण्णत्थ विज्जाचरण सुचिण्ण ।

६२५

अज्ञानवश अपने आपको जानी समझनेवाला समाधि से बहुत दूर है ।

६२६

जो मानवाला है उसके हृदय में माया भी निवास करती है ।

६२७

मान विनय-गुण का नाश करता है ।

६२८

अहंकार को नम्रता से जीतें ।

६२९

गोत्राभिमानी को उसकी जाति व कुल शरणभूत नहीं हो सकते ।
मात्र ज्ञान और धर्म के सिवाय अन्य कोई भी रक्षा नहीं कर सकते ।

माया

६३०

जइ वि य नगिणे किसे चरे, जइ वि य भुज्जिय मासमतसो ।
जे इह मायाहि मिज्जई, आगन्ता गव्भाय णन्तसो ॥

६३१

माई पमाई पुण एइ गव्व ।

६३२

वसीमूलकेतणसमाण माय अणुपविट्ठे
जीवे काल करेइ णेरइएसु उववज्जति ।

६३३

माया विजएण अज्जव जणयइ ।

६३४

मायमज्जवभावेण ।

६३५

माई मिच्छादिट्ठी, अमाई सम्मदिट्ठी ।

६३६

मायी विउव्वइ, नो अमायी विउव्वइ ।

६३७

माया मित्ताणि नासेइ ।

६३८

घम्मविसए वि सुहमा, माया होइ अणत्थाय ।

६३० सूत्र० १।२।१।६

६३१ आचा० १।३।१

६३२ स्था० ४।२

६३३ उत्त० २।६।६

६३४ दश० ८।३।६

६३५ भग० ५।४।२८

६३६. भग० १।३।६

६३७ दश० ८।३।८

६३८ ज्ञाता० १।८

माया

६३०

भले ही कोई नग्न रहे और देह को कृश करे, भले ही कोई मास-मास का अनशन करे, किन्तु जो अन्दर में दम्भ-माया रखता है, वह जन्म-मरण के अनन्त चक्र में भटकता है ।

६३१

मायावी और प्रमादी पुन-पुन गर्भ में जन्म-मरण करता है ।

६३२

वास की जड़ की तरह गाठदार दम्भ, आत्मा को नरकगति की ओर ले जाता है ।

६३३

माया को जीत लेने से ऋजुता-सरलता प्राप्त होती है ।

६३४

सरलता से माया-कपट को जीते ।

६३५

मायावी जीव मिथ्यादृष्टि होता है, अमायावी सम्यग्दृष्टि ।

६३६

जिस के अन्तर में माया का अंश रहा हुआ है वही विकुर्वणा अर्थात् नानारूपो का प्रदर्शन करता है, जबकि माया-रहित सरलात्मा नहीं करता है ।

६३७

माया मित्रता का नाश करती है ।

६३८

धर्म के विषय में की हुई सूक्ष्म-माया भी अनर्थ का कारण बनती है ।

लोभ

६३६

लोभो सव्वविणासणो ।

६४०

इच्छालोभिते मुत्तिमग्गस्स पलिमथू ।

६४१

लोभपत्ते लोभी समावड्ज्जा मोस वयणाए ।

६४२

सीह जहा व कुणिमेण, निव्वभयमेग चरति पासेण ।

६४३

किमिरागरत्तवत्थसमाण लोभ अणुपविट्ठे—
जीवे काल करेइ नेरइएसु उववज्जति ।

६४४

लोभ संतोसओ जिणे ।

६४५

लोभविजएण सतोस जणयई ।

६४६

जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढड ।
दोमासकय कज्ज, कोडीए वि न निट्ठिय ॥

६३६. दश० ८।३८

६४०. स्या० ६।३

६४१. आचा० २।३।१५।२

६४२. सूत्र० १।४।१।८

६४३. स्या० ४।२

६४४. दश० ८।३६

६४५. उत्त० २६।७०

६४६. उत्त० ८।१७

लोभ

६३६

लोभ सभी सद्गुणों का नाश कर देता है ।

६४०

लोभ मुक्ति-पथ का अवरोधक है ।

६४१

लोभ का प्रसंग उपस्थित होने पर व्यक्ति सत्य को झुठला कर असत्य का आश्रय लेता है ।

६४२

निर्भीक्-स्वतन्त्र विचरनेवाला सिंह भी मास के-लोभ से जाल में फँस जाता है ।

६४३

मजीठ के रंग के समान जीवन में कभी नहीं छूटनेवाला लोभ आत्मा को अधोगति (नरक) की ओर ले जाता है ।

६४४

लोभ को सन्तोष से जीतना चाहिए ।

६४५

लोभ को जीत लेने से सन्तोष की प्राप्ति होती है ।

६४६

ज्यो-ज्यो लाभ होता है त्यो-त्यो लोभ भी बढ़ता है, दो मासे सुवर्ण से पूरा होनेवाला कार्य करोड़ से भी पूरा नहीं हुआ ।

६४७

पुढवी साली जवा चेव, हिरण्ण पसुभिस्सह ।
पडिपुण्ण नालमेगस्स, इइ विज्जा तव चरे ॥

६४८

सुवण्ण-रूप्पस्स उ पव्वया भवे,
सिया हु केलाससमा असखया ।
नरस्स लुद्धस्स न तेहि किंचि,
इच्छा हु आगाससमा अणन्तिया ॥

६४९

करेइ लोह, वेर वड्ढइ अप्पणो ।

६५०

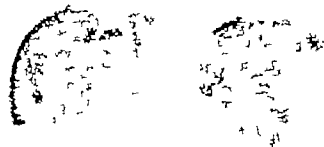
कसिण पि जो इम लोयं, पडिपुण्ण दलेज्ज इक्कस्स ।
तेणापि से न संतुस्से, इइ दुप्पूरए इमे आया ॥

६४७ उत्त० ६।४६

६५०. उत्त० ८।१६

६४८ उत्त० ६।४८

६४९ आचा० २।५



६४७

चावल, जौ आदि धान्यो, सुवर्ण तथा पशुओ से परिपूर्ण पृथ्वी भी लोभी मनुष्य को तृप्त कर सकने में असमर्थ है। यह जानकर तप, सयम का आचरण करना चाहिए।

६४८

कदाचित् सोने और चाँदी के केलाश के समान विशाल असख्य पर्वत हो जायें तो भी लोभी मनुष्य की तृप्ति के लिए वे अपर्याप्त ही हैं। कारण कि इच्छा आकाश के समान अनन्त है।

६४९

जो व्यक्ति लोभ करता है वह अपनी ओर से चारों ओर वैर की अभिवृद्धि करता है।

६५०

बहु मूल्य पदार्थों से परिपूर्ण यह समुचा लोक यदि किसी मनुष्य को दे दिया, तो भी इससे उसे सन्तोष नहीं होगा। लोभी आत्मा की तृष्णा इस प्रकार शान्त होनी अत्यन्त कठिन है। ●

मोह

६५१

सुक्कमूले जहा रुक्खे, सिच्चमाणे ण रोहति ।
एव कम्मा न रोहति, मोहणिज्जे खय गते ॥

६५२

धसेइ जो अभूएण, अकम्म अत्त-कम्मुणा ।
अदुवा तुम कासित्ति, महामोह पकुव्वइ ॥

६५३

जाणमाणो परिसाए, सच्चामोसाणि भासइ ।
अक्खीण-झझे पुरिसे, महामोह पकुव्वइ ॥

६५४

ज निस्सिए उव्वहइ, जससाहिगमेण वा ।
तस्स लुव्वइ वित्तभि, महामोह पकुव्वइ ॥

६५५

वहुजणस्स णेयार, दीव-ताण च पाणिण ।
एयारिस नर हता, महामोह पकुव्वइ ॥

६५६

एग विगिंचमाणे पुढो विगिंचइ ।

मोह

६५१

जैसे वृक्ष को जड़ सूख जाने पर उसे कितना ही जल से सीचा जाय फिर भी वह हरा-भरा नहीं होता, वैसे ही मोहनीय कर्म के क्षीण होने पर पुनः कर्म उत्पन्न नहीं होते ।

६५२

अपने द्वारा किये हुए दुष्कर्म को दूसरे निर्दोष व्यक्ति पर डाल कर उसे लाञ्छित किया जाय और यह कहा जाय कि “यह पाप तू ने किया है” वह महामोह कर्मबन्ध का कारण बनता है ।

६५३

जो सत्य घटना को जानता हुआ भी सभा बीच अस्पष्ट एवं मिश्र-भाषा का प्रयोग करता है, तथा कलह-द्वेष से प्रयुक्त है, वह महामोह रूप पापकर्म का बन्ध करता है ।

६५४

जिसके आश्रय तथा सहयोग से जीवनयात्रा चलती हो, उसी की सम्पत्ति का अपहरण करनेवाला द्रुष्ट-जन-महामोह कर्म का बन्ध करता है ।

६५५

जो बहु-जन समाज का नेता है तथा दुःखसागर में डूबे हुये दुःखी मनुष्यों का जो द्वीप के समान आधार-भूत है, ऐसे महान् उपकारी व्यक्ति की हत्या करनेवाला महामोह कर्म का उपार्जन करता है ।

६५६

जो मोह का नाश करता है वह अन्य अनेक कर्म विकल्पो का नाश करता है ।

राग-द्वेष

६६२

रागो य दोसो वि य कम्मवीय,
कम्म च मोहप्पभव वयति ।
कम्म च जाईमरणस्स मूल,
दुक्ख च जाईमरण वयति ॥

६६३

जीवाण दोहिं ठाणेहि पावकम्म वधइ,
न जहा-रागेण चेव, दोसेण चेव ।

६६४

राग-दोसे य दो पावे, पावकम्म-पवत्तणे ।

६६५

राग-दोसस्सिया वाला, पाव कुव्वति ते बहु ।

६६६

छिदाहि दोस विणएज्ज राग,
एव सुही होहिसि सपराए ।

६६७

अन्धे व से दडपह गहाय,
अविओसिए घासति पावकम्मी ।

६६८

दुविहे वधे-पेज्जवधे चेव दोसवधे चेव ।

६६७. उत्त० ३२।७

६६३ स्या० २।४

६६४ उत्त० ३१।३

६६५. सूत्र० ८।८

६६६ दश० २।५

६६७ सूत्र० १।१३।५

६६८. स्या० २।४

राग-द्वेष

६६२

राग और द्वेष ये दोनों कर्म के बीज हैं। अतः कर्म का उत्पादक मोह ही माना गया है। कर्म मिद्धान्त के विशिष्ट ज्ञानी यह कहते हैं कि ससार में जन्म-मरण का मूल कर्म है और जन्म-मरण यही एक मात्र दुःख है।

६६३

जीव दो कारणों से पापकर्म बाधते हैं—राग और द्वेष से।

६६४

राग और द्वेष ये दोनों पाप कार्यों की प्रवृत्ति कराने में सहायक हैं।

६६५

अज्ञानी जीव राग-द्वेष से आवृत्त होकर विविध पाप-कर्म किया करते हैं।

६६६

द्वेष को नष्ट करो, और राग को दूर करो। ऐसा करने से ससार में सुखी हो जाओगे।

६६७

अनुपशान्त राग-द्वेषवाला पापकर्मी जीव ससार में उसी प्रकार पीडित होता है, जैसे विपममार्ग पर चलता हुआ अन्धा व्यक्ति।

६६८

दो प्रकार के बन्धन हैं—प्रेम का बन्धन और द्वेष का बन्धन।

६५७

सेणावइमि निहते, जहा सेणा पणस्सइ ।
एव कम्माणि णस्सति, मोहणिज्जे खय गए ॥

६५८

मदा मोहेण पाउडा ।

६५९

मोहेण गव्व मरणाइ एइ ।

६६०

धूमहीणो जहा अग्गी, खीयति से निरिधणे ।
एव कम्माणि खीयति, मोहणिज्जे खय गए ॥

६६१

अणाणाय पुट्ठा वि एगे नियट्ठति,
मदा मोहेण पाउडा ।

६५७

जिस प्रकार सग्राम मे सेनापति के मर जाने पर सारी सेना भाग जाती है, उसी प्रकार एक मोहकर्म के क्षय होने पर, सभी कर्म नष्ट हो जाते हैं ।

६५८

अज्ञानी जीव मोह से आवृत होते हैं ।

६५९

मोह से जीव बार बार जन्म-मरण के आवर्तन मे फँसता है ।

६६०

जिस प्रकार अग्नि इन्धन के अभाव मे धूमरहित होकर क्रमश, विनाश को प्राप्त होती है उसी प्रकार मोहकर्म के क्षय होने पर अवशेष कर्म भी नष्ट हो जाते हैं ।

६६१

मोहासक्त अज्ञानी साधक विपत्ति आने पर धर्म के प्रति अवज्ञा करते हुये पुनः ससार की ओर लौट पडते हैं । ●

६६६

न सक्का न सोउ सद्दा, सोतविसय मागया ।
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू-परिवज्जए ॥

६७०

न सक्का रूवमद्दट्ठु, चवखुविसयमागय ।
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ॥

६७१

न सक्का गधमग्घाउ, नासाविसयमागय ।
राग दोसाउ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ॥

६७२

न सक्का रसमस्साउ, जीहाविसयमागय ।
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ॥

६७३

न सक्का फासमवेएउ, फासविसयमागय ।
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ॥

६७४

अकुव्वओ णव णत्थि ।

६६६

यह सम्भव नहीं है कि कानों में पडनेवाले अच्छे या बुरे शब्दों को न सुने जाय, बल्कि शब्दों के प्रति जगनेवाले राग-द्वेष का भिक्षु को परित्याग करना चाहिए ।

६७०

यह सम्भव नहीं है कि आँखों के सामने आनेवाला अच्छा या बुरा रूप न देखा जाय, बल्कि रूप के प्रति जागृत होनेवाले राग-द्वेष का भिक्षु को परित्याग करना चाहिए ।

६७१

यह सम्भव नहीं है कि नाक के समक्ष आया हुआ सुगन्ध या दुर्गन्ध सूँघने में न आए, बल्कि गन्ध के प्रति जगने वाले राग-द्वेष की वृत्ति का भिक्षु को त्याग करना चाहिए ।

६७२

यह सम्भव नहीं है कि जीभ पर आया हुआ अच्छा या बुरा, रस चखने में न आए, बल्कि रस के प्रति जगने वाले राग-द्वेष का भिक्षु को परित्याग करना चाहिए ।

६७३

यह सम्भव नहीं है कि शरीर से स्पर्शित होनेवाले अच्छे या बुरे स्पर्श का अनुभव न हो, बल्कि स्पर्श के प्रति जगनेवाले राग-द्वेष का भिक्षु को परित्याग करना चाहिए ।

६७४

जो आत्मा अपने भीतर में राग-द्वेष रूप भाव-कर्म नहीं करता उसे नये कर्म का बन्ध नहीं पडता ।

कर्मवाद

६७५-६७६

नाणस्सावरणिज्ज, दसणावरण तहा ।
वेयणिज्ज तहा मोह, आउकम्म तहेव य ॥
नामकम्म च गोत्त च, अतराय तहेव य ।
एवमेयाइ कम्माइ, अट्टेव उ समासओ ।

६७७

सीह जहा खुड्डुमिगा चरता,
दूरे चरती परिसकमाणा ।
एव तु मेहावि समिक्ख धम्म,
दूरेण पाव पग्गिज्जएज्जा ॥

६७८

सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णफला भवति ।
दुचिण्णा कम्मा दुचिण्णफला भवति ॥

६७९

जह मिउलेवलित्त गरुय तुव अहो वयड एव ।
आसवकयकम्मगुरु, जीवा वच्चति अहरगइ ॥

६८०

त चेव तव्विमुक्क, जलोवरि ठाइ जायलहुभावं ।
जह तह कम्मविमुक्का, लोयगपइठिया होति ॥

६७५ उत्त० ३३।२।३

६७८ औप० ५६

६७६ उत्त० ३३।२।३

६७९ ज्ञाता० ६

६७७ सूत्र० १।१०।२०

६८० ज्ञाता० ६

कर्मवाद

६७५—६७६

ज्ञानवरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय-इस प्रकार सक्षेप में ये आठ कर्म बतलाये हैं ।

६७७

जिस प्रकार वन में विचरण करनेवाले मृग-शावक सिंह की आशका करते हुए उनसे दूर-दूर रहते हैं, उसी प्रकार मेधावी पुरुष धर्म-तत्त्व को समझने पर पाप-कर्म का दूर से ही परित्याग कर देता है ।

६७८

अच्छे कर्म का फल अच्छा होता है । बुरे कर्म का फल बुरा होता है ।

६७९

जिस तुवे पर मिट्टी की परतें लगाने से वह भारी हो जाता है और पानी में डुबाने पर डूब जाता है । ठीक वैसे ही हिंसा असत्य, चोरी, व्यभिचार, तथा मूर्च्छा-मोह आदि आश्रवरूपी कर्म करने से आत्मा पर कर्मरूपी मिट्टी की परतें जम जाती हैं । और यह भारी बनकर अधोगति को प्राप्त होती है ।

६८०

यदि उसी तुवे की मिट्टी की परतें हटादी जाय तो वह हलका होने के कारण पानी पर तैरने लग जाता है, वैसे ही यह आत्मा भी जब कर्म-वन्धनो से सर्वथा मुक्त हो जाती है, तब ऊर्ध्वगति प्राप्त कर लोक के अग्र-भाग पर जा कर स्थिर हो जाती है ।

६८१

नो इदियगेज्झ अमुत्तभावा, अमुत्तभावा वि य होइ निच्चो ।
अज्झत्थहेउ निययस्स वधो, संसारहेउं च वयति वध ॥

६८२

जहा दड्ढाण वीयाण, ण जायति पुण अंकुरा ।
कम्मवीएसु दड्ढेसु, न जायति भवंकुरा ॥

६८३

जह जीवा वज्झति मुच्चंति जह य परिकिलिसति ।
जह दुक्खाण अंतकरेति केई अपडिवद्धा ॥

६८४

अट्टटुहट्टियचित्ता जह जीवा दुक्ख सागरमुवेति ।
जह वेरग्गमुवगया कम्मसमुग्गं विहाडेति ॥

६८५

जह रागेण कडाण कम्माण पावगो फलविवागो,
जह य परिहीणकम्मा सिद्धा सिद्धालयमुवेति ॥

६८६

सव्वे सयकम्मकप्पिया ।

६८७

अकम्मस्स ववहारो न विज्जइ ।

६८१

आत्मा अमूर्त है, इसलिए यह इन्द्रियो के द्वारा नहीं जाना जा सकता । अमूर्त होने ने कारण ही आत्मा नित्य है, यह निश्चय है कि मिथ्या-त्वादि कारणों से आत्मा को कर्म-बन्धन होता है और यह बन्धन ही ससार का हेतु है ।

६८२

बीज के जल जाने पर उससे नवीन अकुर प्रस्फुटित नहीं हो सकता, वैसे ही कर्मरूपी बीजों के दग्ध हो जाने पर उसमें से जन्म-मरण-रूप अकुर प्रस्फुटित नहीं हो सकता ।

६८३

जिस प्रकार जीव कर्म-बन्धन में फँस जाते हैं, वैसे ही उनसे मुक्त भी हो जाते हैं और जैसे कर्म के सग्रह से असख्य कण्टों का सामना करना पड़ता है । वैसे ही कुछ कर्मों के विलग होने पर सर्व दुःखों का अंत हो जाता है—ऐसा ज्ञानियों ने कहा है ।

६८४

जिस प्रकार आर्त-रौद्र ध्यान से विकल्प चित्तवाले जीव दुःख-सागर को प्राप्त होते हैं, वैसे ही वैराग्य प्राप्त जीव कर्म-दलिक को नष्ट कर डालते हैं ।

६८५

जैसे राग-द्वेष द्वारा उपाजित कर्म-फल कष्टप्रद होते हैं, वैसे ही सर्व-कर्मों के क्षय से जीव सिद्धावस्था प्राप्त कर मिद्वलोक में अवस्थित हो जाता है ।

६८६

प्राणी-मात्र अपने कृत-कर्मों के कारण ही विविध योनियों में भ्रमण करते हैं ।

६८७

जो साधक कर्म में से अकर्म की दशा में पहुँच चुका है, वह लोक व्यवहार की सीमा रेखा को लाघ गया है ।

६८८

कम्ममुणा उवाही जायइ ।

६८९

कम्ममूल च ज छणं ।

६९०

एगो सय पच्चणुहोइ दुक्ख ।

६९१

ज जारिस पुव्वमकासि कम्मं,
तमेव आगच्छति सपराए ।

६९२

सकम्ममुणा विप्परियासुवेइ ।

६९३

तुट्ठति पावकम्माणि, नव कम्ममकुव्वओ ।

६९४

वहुकम्मलेवलित्ताणं, वोही होइ सुदुल्लहा तेसिं ।

६९५

कत्तारमेव अणुजाइ कम्म ।

६९६

विहुणाहि रय पुरे कड ।

६९७

सयमेव कडेहि गाहइ, नो तस्स मुच्चेज्जप्पुट्ठय ।

६९८

कम्मसगेहि सम्मूढा, दुक्खिया वहुवेयणा ।

६८८. आचा० १।३।१	६८९. आचा० १।३।१	६९०. सूत्र० १।५।२।२२
६९१. सूत्र० १।५।२।२३	६९२. सूत्र० १।७।११	६९३. सूत्र० १।१५।६
६९४. उक्त० ८।१५	६९५. उक्त० १।३।२३	६९६. उक्त० १०।३
६९७. सूत्र० १।२।१।४	६९८. उक्त० ३।६	

६८८

कर्म से ही समस्त उपाधियाँ उत्पन्न होती हैं ।

६८९

कर्म का मूल क्षण—हिंसा है ।

६९०

आत्मा अकेला ही अपने कृतदुःख का भोक्ता है ।

६९१

भूतकाल में जैसा भी कर्म किया गया है, भविष्य में वह उसी रूप में समक्ष आता है ।

६९२

ससार के सभी प्राणी अपने ही कृतकर्मों से कष्ट उठाते हैं ।

६९३

जो नूतन कर्मों का बन्धन नहीं करता है, उसके पूर्ववद्ध पाप कर्म विनष्ट हो जाते हैं ।

६९४

जो आत्माएँ कर्मों से अत्यधिक लिप्त हैं उन्हें बोधि-(ज्ञान) प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ है ।

६९५

कर्मकर्ता के पीछे-पीछे सदा चलते रहते हैं ।

६९६

पूर्वसंचित कर्म-रूपी रज को दूर कर ।

६९७

जीव अपने स्वयं के उपार्जित कर्मजाल में आवद्ध होता है । कृतकर्मों को भोगे बिना मुक्ति नहीं है ।

६९८

जीव कर्मों के सग मूढ बनकर अत्यन्त वेदना तथा दुःख को प्राप्त होते हैं ।

६६६

समावण्णाण ससारे, णाणागोत्तासु जाइसु ।
कम्मा णाणाविहा कट्ठु, पुढो विस्सभिया पया ॥

७००

एगया देवलोएसु, नरएसु वि एगया ।
एगया आसुर काय आहाकम्मेहि गच्छई ॥

७०१

एगया खत्तिओ होई, तओ चडाल वुक्कसो ।
तओ कीड - पयंगोय, तओ कुथु - पिवीलिया ॥

७०२

सव्वजीवाण कम्म तु, सगहे छद्दिसागय ।
सव्वेसु वि पएसेसु, सव्व सव्वेण वज्झग ॥

७०३

अस्सि च लोए अदुवा परत्था,
सयग्गसो वा तह अन्नहा वा ।

७०४

संसारमावन्न परं परं ते,
बधति वेदति य दुन्नियाणि ।

७०५

तेणे जहा सन्धिमुहे गहीए,
सकम्मुणा किच्चइ पावकारी ।
एव पया पेच्च इह च लोए,
कडाण कम्माण न मुक्ख अत्थि ॥

६६६. उत्त० ३।२

७००. उत्त० ३।३

७०१ उत्त० ३।४

७०२. उत्त० ३।१८

७०३ सूत्र० १।७।४

७०४ सूत्र० १।७।४

७०५ उत्त० ४।३

६६६

समारी जीव विविध प्रकार के कर्मों का अर्जन कर विविध नामवाली जातियों में उत्पन्न हो, ससार में भिन्न-भिन्न स्वरूप का स्पर्श कर सब जगह उत्पन्न हो जाते हैं ।

७००

यह जीव अपने कृतकर्मों के अनुसार कभी, देवलोक में कभी नरक में तो कभी असुरों के निकाय में उत्पन्न होता है ।

७०१

यह जीव किसी समय चाण्डाल, किसी समय वृक्कस [वर्णसकर जाति] किसी समय कीट, किसी समय पतङ्ग, किसी समय कुन्थु, और किसी समय चीटी भी बनता है ।

७०२

सभी जीव अपने आस-पास छोटी दिशाओं में स्थित कर्म पुद्गलों को ग्रहण करते हैं और आत्मा के सर्व प्रदेशों के साथ सर्व कर्मों का सर्व प्रकार से बन्धन हो जाता है ।

७०३

कृत कर्म इस जन्म में अथवा अगले जन्म में जिस तरह भी किये गए हों, वे उसी प्रकार से अथवा अन्य प्रकार से फल अवश्य देते हैं ।

७०४

ससार चक्र में परिभ्रमण करता हुआ जीव अपने दुष्कृत्यों के कारण सतत नूतन कर्म बाँधता है तथा उसका फल भोगता है ।

७०५

जैसे तस्कर सेन्ध के द्वार पर पकड़ा जाने पर अपने ही दुष्कर्म के कारण चीरा-मारा जाता है, वैसे ही पापाचारी जीव भी इस लोक तथा परलोक में दोनों ही जगह भयकर कष्ट उठाता है । क्यों कि जो कर्म एक बार बाध लिये जाते हैं वे लाख प्रयत्न करने पर भी भोगे बिना छूट नहीं सकते ।

सदाचार

७०६

चीराजिण नगिणिण, जडी सघाडि मुडिण ।
एयाणि वि न तायति, दुस्सीलं परियागय ॥

७०७

भिक्षाए वा गिहत्ये वा, सुव्वए कम्मई दिव ।

७०८

न सत्तसत्ति मरणते, सीलवंता बहुस्सुया ।

७०९

भणता अकरेन्ता य, बंधमोक्खपइणिणो ।
वायावीरियमेत्तेण, समासासेन्ति अप्पय ॥

७१०

न चित्ता तायए भासा, कुओ विज्जाणुसासण ।

७११

मा ण तुम पदेशी ।

पुव्व रमणिज्जे भवित्ता, पच्छा अरमणिज्जे भवेज्जासि ।

७०६ उत्त० ५।२१

७०७. उत्त० ५।२२

७०८ उत्त० ५।२६

७०९. उत्त० ६।१०

७१०. उत्त० ६।११

७११. राज प्र० ४।८२

सदाचार

७०६

चीवर, चर्म, नग्नत्व, जटाधारीपन, सघाटी और सिर मुण्डाना—ये सब दुष्टशीलवाले साधक की रक्षा करने में समर्थ नहीं होते ।

७०७

भिक्षु हो अथवा गृहस्थ, जो सुव्रती सदाचारी है, वह दिव्य देवगति को प्राप्त होता है ।

७०८

बहुश्रुत ज्ञानी और सदाचारी साधक मृत्यु के क्षणों में भी सन्नस्त नहीं होते ।

७०९

बन्ध और मोक्ष की चर्चा करनेवाले दार्शनिक केवल वाणी के बल पर ही आत्मा को आश्वासन देते हैं । किंतु आचरण कुछ भी नहीं करते, वे केवल बोल कर ही रह जाते हैं ।

७१०

विविध भाषाओं का ज्ञान मनुष्य को दुर्गति से बचा नहीं सकता, तो फिर विद्याओं का अनुशासन कैसे किसी को बचा सकेगा ?

७११

हे राजन् ! तुम जीवन के पूर्वकाल में रमणीय होकर उत्तरकाल में अरमणीय मत बनना ।

७१२

जहा सुणी पूइकन्नी, निक्कसिज्जई सव्वसो ।
एव दुस्सील पडिणीए, मुहरी निक्कसिज्जई ॥

७१३

कणकुडग चइत्ताण, विट्ठ भुजइ सूयरे ।
एव सील चइत्ताण, दुस्सीले रमई मिए ॥

७१४

तमे णाम एगे जोइ, जोई णाम एगे तमे ।

७१५

धम्मज्जिय च ववहार, बुद्धेहि आयरिय सया ।
तमायरतो ववहार, गरह नाभिगच्छइ ॥

७१२

जैसे सड़े हुए कानोवाली कुतिया सभी स्थानों से निकाल दी जाती है, वैसे ही दुःशील, उद्द और वाचाल मनुष्य को सर्वत्र तिरस्कार करके निकाल दिया जाता है ।

७१३

जिस प्रकार सूअर चावलो का स्वादिष्ट भोजन छोड़कर विष्ठा खाता है, उसी प्रकार अज्ञानी मनुष्य सदाचार को छोड़कर दुराचार में रमण करना पसंद करता है ।

७१४

कभी-कभी अज्ञान-अन्धकार में भी सदाचार की ज्योति जल उठती है और कभी-कभी ज्ञान-ज्योति पर दुराचार का अन्धकार भी छा जाता है ।

७१५

जो व्यवहार धर्म-सगत है, जिसका तत्त्वज्ञ आचार्यों ने सदा आचरण किया उस व्यवहार-सदाचार का आचरण करनेवाला मनुष्य कभी भी निन्दा का पात्र नहीं होता ।

साधक-जीवन

७१६

सातागारव णिहुए, उवसतेऽणिहे चरे ।

७१७

अप्पपिण्डासि पाणासि, अप्प भासेज्ज सुव्वए ।

७१८

सीहत्ताते णाम एगे णिव्वखते सीहत्ताते विहरइ ।
सीहत्ताते णाम एगे णिव्वखते सियालत्ताए विहरइ ।
सियालत्ताए णाम एगे णिव्वखते सीहत्ताए विहरइ ।
सियालत्ताए णाम एगे णिव्वखते सियालत्ताए विहरइ ।

७१९

सएण लाभेण तुस्सइ,
परस्स लाभं णो आसाएइ...
दोच्चा सुहसेज्जा ।

७२०

अदीणो वित्तिमेसेज्जा, न विसीएज्ज पडिए ।

७२१

पूयणट्ठी जसोकामी, माणसमाणकामए ।
वहुं पसवई पाव, मायासल्ल च कुव्वइ ॥

७१६ सूत्र० १।८।१८ ७१७ सूत्र० १।८।२५ ७१८. स्था० ४।३
७१९ म्या० ४।३ ७२० दण० ५।२।२६ ७२१. दण० ५।२।३५

साधक-जीवन

७१६

साधक सुख-सुविधा की भावना से दूर होकर उपशांत तथा माया रहित बन कर विचरण करे।

७१७

सुव्रती साधक कम खाये कम पीये, तथा कम बोले।

७१८

कुछ साधक सिंहवृत्ति से साधना पथ पर आते हैं, और सिंह-वृत्ति से ही रहते हैं।

कुछ सिंहवृत्ति से आते हैं, किंतु बाद में शृगालवृत्ति अपना लेते हैं।
कुछ शृगालवृत्ति से आते हैं, किंतु बाद में सिंहवृत्ति अपना लेते हैं।
कुछ शृगालवृत्ति लिए आते हैं और शृगालवृत्ति से ही चलते रहते हैं।

७१९

जो साधक अपने इच्छित फल की प्राप्ति में सन्तुष्ट रहता है और दूसरों के लाभ की आकांक्षा नहीं रखता वह सुखपूर्वक सोता है।

७२०

ज्ञानी आत्मा अदीनभाव से भिक्षा की गवेषणा करे, किसी भी स्थिति में मन में विषाद न आने दे।

७२१

जो साधक पूजा-प्रतिष्ठा के चक्कर में पड़ा है, यश का कामी है, मान-सम्मान का पिपासु है, उनके लिये अनेक प्रकार का दम्भ रचता हुआ बहुत पाप कर्म का सचय करता है।

७२२

अणुमाय पि मेहावी, मायामोस विवज्जए ।

७२३

नो सिलोगाणुवाई,
नो सातसोक्खपडिवद्धे यावि भवइ ।

७२४

जया मुण्डे भवित्ताण, पव्वयइए अणगारिय ।
तया संवरमुक्किट्ठ, धम्म फासे अणुत्तर ॥

७२५

तयस व जहाइ से रय ।

७२६

पोक्खरपत्त व निरुवलेवे...
आगास चेव निरुवलवे..... ।

७२७

णेम चित्त समादाय, भुज्जो लोयसि जायइ ।

७२८

ओम चित्त समादाय, ज्ञाण समुप्पज्जइ ।

७२९

अप्पाहारस्स दत्तस्स, देवा दसेति ताइणो ।

७३०

अणभिवकत्त च वय सपेहाए, खण जाणाहि पडिए ।

७२२

आत्मार्थी साधक अणुमात्र भी माया-मृषा का सेवन न करे ।

७२३

साधक कभी भी यश-प्रतिष्ठा, प्रशंसा और दैहिक सुखो के पीछे न पड़े ।

७२४

जब साधक सिर मुण्डवाकर अनगार धर्म को स्वीकार करता है, तब वह उत्कृष्ट सयमरूपी धर्म का आचरण कर सकता है ।

७२५

जिस प्रकार नागराज अपनी केंचुली को छोड़ देता है, उसी प्रकार आत्मस्थ साधक अपनी कर्म रज को झाड़ देता है ।

७२६

आत्मार्थी साधक को जल-कमल की तरह निर्लेप और आकाश की तरह निरवलम्ब होना चाहिये ।

७२७

निर्मल चित्तवाला साधक लोक में पुनर्जन्म नहीं लेता ।

७२८

चित्त की निर्मलता से ही ध्यान की सही अवस्था प्राप्त होती है । जो बिना किसी द्वन्द्व—विमनस्कता के निर्मल मन से धर्म में स्थिर है, वह निर्वाण-मोक्ष को प्राप्त करता है ।

७२९

जो अल्पाहारी है, इन्द्रियविजेता है, समस्त जीवों के प्रति रक्षा की भावना रखता है, उस साधक के दर्शन हेतु देव भी लालायित रहते हैं ।

७३०

हे पण्डित साधक ! जीवन के जो क्षण बीत गये सो बीत गये । अवशेष जीवन को ही लक्ष्य में रखते हुए प्राप्त अवसर का तू सदुपयोग कर ।

७३१

इत्थ मोहे पुणो पुणो सन्ना
नो हव्वाए नो पाराए ।

७३२

सुमणे अहियासेज्जा, न य कोलाहलं करे ।

७३३

वुच्चमाणो न संजले ।

७३४

अच्चणं रयणं चेव, वन्दण पूअण तहा ।
इड्ढीसक्कारसम्माण, मणसा वि न पत्थए ॥

७३५

जस किंत्ति सिलोग च, जा य वदण-पूयणा ।
सव्वलोयसि जे कामा, तं विज्ज परिजाणिया ॥

७३१

पुन-पुन मोह-ग्रस्त होनेवाला साधक न इस पार—इस लोक का रहता है और न उस पार—परलोक का रहता है ।

७३२

साधक को कैसा भी कष्ट हो, वह प्रसन्न मन से सहन करे, कोलाहल-क्रन्दन न करे ।

७३३

साधक को यदि कोई दुर्वचन कहे तो भी वह उस पर गरम न हो अर्थात् क्रोध न करे ।

७३४

सयमी साधक अर्चना, रचना, वन्दना, पूजा, ऋद्धि सत्कार और सम्मान की मन से भी अभिलाषा न करे ।

७३५

यश, कीर्ति, प्रशंसा, वन्दन, पूजन और ससार के जितने भी काम-भोग है, विद्वान् साधक आत्मघातक समझ कर इन सब का परित्याग कर दे ।

शिक्षा और व्यवहार (३)

शिक्षा	●
मनुष्य-जन्म	●
भाषा-विवेक	●
रात्रिभोजन त्याग	●
विषयभोग-मुक्ति	●
पाप-परिणाम	●
अज्ञान	●
ज्ञानी-अज्ञानी	●
अप्रमाद	●
तृष्णा	●
स्नेहसूत्र	●
यज्ञ	●
परलोक	●
वोधसूत्र	●
विकीर्ण सुभाषित	●

शिक्षा

७३६

विवत्ती अविणीयस्स, सपत्ती विणियस्स य ।
जस्सेय दुहओ नाय, सिक्ख से अभिगच्छइ ॥

७३७

जे आयरियउवज्झायाण, सुस्सूसावयणकरा ।
तेसिं सिक्खा पवड्डु ति, जलसित्ता इव पायवा ॥

७३८

अह पचहिं ठाणेहिं, जेहिं सिक्खा न लब्भई ।
यम्भा कोहा पमाएण, रोगेणालस्सएण य ॥

७३९

गिहिवासे वि सुव्वए ।

७४०

पियकरे पियवाई, से सिक्ख लद्धु गरिहई ।

७४१-७४२

अह अट्ठहिं ठाणेहिं, सिक्खासीलेत्ति वुच्चइ ।
अहस्सिरे सयादत्ते, ण य मम्ममुदाहरे ॥
णासीले ण विसीले, ण सिया अइलोलुए ।
अकोहणे सच्चरए, सिक्खासीलेत्ति वुच्चइ ॥

७४३

संकिलेसकरं ठाणं, दूरओ परिवज्जए ।

७४४

कह चरे ? कहं चिट्ठे ? कहमासे ? कह सए ?
कह भुजन्तो, भासन्तो, पाव-कम्म न वधइ ?

७३६ दश० ६।२।२१

७३९ उत्त० ५।२४

७४२ उत्त० १।१।५

७३७ दश० ६।१२

७४० उत्त० १।१।१४

७४३ दश० ५।१।१६

७३८ उत्त० १।१।३

७४१ उत्त० १।१।४

७४४ दश० ४।७

शिक्षा

७३६

अविनीत को विपत्ति प्राप्त होती है और सुविनीत को सम्पत्ति ।
जिसने ये दोनों बातें जान ली हैं, वही शिक्षा प्राप्त कर सकता है ।

७३७

जो मुनि आचार्य, और उपाध्याय की सेवा-सुश्रुषा तथा उनकी आज्ञा का पालन करता है, उनकी शिक्षा उसी प्रकार बढ़ती है, जैसे जल से सींचा हुआ वृक्ष ।

७३८

अहंकार, क्रोध, प्रमाद, रोग और आलस्य इन स्थानों—कारणों से शिक्षा प्राप्त नहीं होती ।

७३९

धर्मशिक्षा से समापन्न मनुष्य गृहवास में भी सुव्रती है ।

७४०

जो प्रिय करता है, जो प्रिय बोलता है—वह अपनी अभीष्ट शिक्षा प्राप्त कर सकता है ।

७४१—७४२

आठ प्रकार से साधक को शिक्षाशील कहा जाता है । जो हास्य न करे, जो सदा इन्द्रिय और मन का दमन करे, जो मर्म-प्रकाश न करे, जो चरित्र से हीन न हो, जिसका चरित्र दोषों से कलुषित न हो, जो रसों में अति लोलुप न हो, जो क्रोध न करे, और जो सत्य में रत हो ।

७४३

जिस जगह क्लेश-सघर्ष की संभावना हो, उस स्थान से सदा दूर रहना चाहिये ।

७४४

भन्ते ! कैसे चले ? कैसे खड़ा हो ? कैसे बैठे ? कैसे सोये ? कैसे खाये ? कैसे बोले ? जिससे कि पाप-कर्म का बन्ध न हो ।

७४५

जय चरे, जय चिट्ठे, जयमासे जयं सए ।
जय भुजन्तो भासन्तो, पाव-कम्म न वधइ ॥

७४६

न य पावपरिक्खेवी, न य मित्तेसु कुप्पई ।
अप्पियस्सावि मित्तस्स, रहे कल्लाण भासइ ॥

७४७

सङ्घी आणाए मेहावी ।

७४८

इह आणाकखी पडिए अणिहे ।

७४९

निद्देस नाइवट्टेज्जा मेहावी ।

७५०

आणाए अभिसमेच्चा अकुतोभय ।

७५१

निट्ठियट्ठे वीरे आगमेण,
सया परक्कमेज्जासि त्ति वेमि ।

७५२

इच्छा लोभ न सेविज्जा ।

७५३

लज्जा - दया - सजम-वभचेर,
कल्लाणभागिस्स विसोहिठाण ।

७४५ दश० ४।८

७४८ आचा० ४।३

७५१ आचा० ५।६

७४६. उत्त० ११।१२

७४९ आचा० ५।६

७५२ आचा० ८।८।२३

७४७ आचा० ३।४

७५० आचा० ९।३

७५३. दश० ९।१।१३

७४५

आयुष्मन् । यतनापूर्वक चलने, यतनापूर्वक खड़ा होने, यतनापूर्वक बैठने, यतनापूर्वक सोने, यतनापूर्वक खाने और यतनापूर्वक बोलनेवाला पाप-कर्म का बन्धन नहीं करता ।

७४६

सुशिक्षित व्यक्ति स्खलना होने पर भी किसी पर दोषारोपण नहीं करता और न कभी मित्रों पर क्रोध ही करता है । यहाँ तक कि अप्रिय मित्र की परोक्ष में भी प्रशंसा ही करता है ।

७४७

प्रभु की आज्ञा पालन करने में जो व्यक्ति श्रद्धा-शील होता है, वह मेधावी बुद्धिमान कहलाता है ।

७४८

जो प्रभु-आज्ञा की सम्यग् आराधना करता है, वह पण्डित है तथा पापकर्मों से अलिप्त रहता है ।

७४९

बुद्धिमान पुरुष को चाहिए कि वह भगवान की आज्ञा का उल्लंघन न करे ।

७५०

आप्त पुरुषों द्वारा बताया हुए तत्त्व को जानकर तदनुसार कार्य करने-वाले को कही भी भय की स्थिति का सामना नहीं करना पड़ता ।

७५१

श्रद्धाशील वीरपुरुष को शास्त्रानुसार सदा पराक्रम करना चाहिये ।

७५२

इच्छा तथा लोभ का सेवन नहीं करना चाहिए ।

७५३

कल्याणभागी के लिये लज्जा, दया, समय और ब्रह्मचर्य—ये आत्म-विशुद्धि के साधन हैं ।



७५४

आयारपन्नत्तिघर, दिट्ठिवायमहिज्जग ।
वायविवखलिय नच्चा, न त उवहसे मुणी ॥

७५५

सन्वत्थ विणीयमच्छरे ।

७५६

अहिगरण न करेज्ज पडिए ।

७५७

चत्तारि अवायणिज्जा पणत्ता, त जहा
अविणीए, विगइपडिवद्धे, अविउसवियपाहुडे, मायी ।

७५८

ज छन्न त न वत्तव्व ।

७५९

अट्ठावय न सिक्खिज्जा, वेहाइय च णो वए ।

७६०

जह तुब्भे तह अम्हे, तुम्हे वि होहिहा जहा अम्हे ।
अम्पाहेइ पडत, पडुअ - पत्त किसलयाण ॥

७५४ दश० ८१५०

७५५. सूत्र० २।३।१४

७५६ सूत्र० २।२।१६

७५७. स्था० ४।३।३३६

७५८ सूत्र० १।६।२६

७५९ सूत्र० १।६।१७

७६० अनुयोगद्वार, प्रमाणाधिकार

७५४

आचार प्रज्ञप्ति का ज्ञाता—वाक्य-रचना के नियमों को जानने वाला तथा दृष्टिवाद का अध्ययन करनेवाला मुनि भी कदाचित् बोलते समय वचन से स्खलित हो जाय तो उनके अशुद्ध वचन को जानकर मुनि उनकी हँसी न करे ।

७५५

साधक सर्वत्र मत्सर-ईर्ष्याभाव रहित रहे ।

७५६

पण्डित पुरुष को कभी किसी से कलह-झगडा नहीं करना चाहिये ।

७५७

चार व्यक्ति शिक्षा देने के अयोग्य कहे हैं, अविनीत, स्वादेन्द्रिय मे गृद्ध, क्रोधी, और कपटी ।

७५८

किसी की कोई गोपनीय बात हो तो उसे कभी प्रकट नहीं करनी चाहिए ।

७५९

जुआ खेलना मत सीखो, और धर्म के विरुद्ध मत बोलो ।

७६०

पीतवर्ण (पीला) पत्ता पृथ्वी पर गिरता हुआ अपने साथी हरे पत्तों से कहता है—“मेरे साथी ! आज जैसे तुम हो एक दिन हम भी ऐसे ही थे, और आज जैसे हम हैं एक दिन तुम्हें भी ऐसा ही होना होगा” ।

मनुष्य-जन्म

७६१

तओ ठाणाइं देवे पीहेज्जा,
माणुस्स भव, आरिए खेत्त जम्म,
सुकुलपच्चायाइ ?

७६२

चत्तारि फला—

आमे णाम एगे आममहुरे ।
आमे णाम एगे पक्कमहुरे ।
पक्के णाम एगे आममहुरे ।
पक्के णाम एगे पक्कमहुरे ।

७६३

चत्तारि परमगाणि, दुल्लहाणीह जतुणो ।
माणुसत्त सुई सद्धा, संजमम्मि य वीरिय ॥

७६४

जीवा सोहिमणुप्पत्ता, आययति मणुस्सय !

७६५

दुल्लहे खलु माणुसेभवे ।

७६६

चउहिंठाणेहि जीवा माणुसत्ताए कम्म पगरेति—
पगइ भद्दयाए, पगइ विणीययाए,
साणुक्कोसयाए, अमच्छरियाए ।

७६७

पुव्वकम्मखयट्ठाए, इम देह समुद्धरे ।

७६१ स्या० ३।३।५२

७६२ स्या० ४।१।१६

७६३ उत्त० ३।१

७६४ उत्त० ३।७

७६५ उत्त० १०।४

७६६ स्या० ४।४

७६७ उत्त० ६।१४

मनुष्य-जन्म

७६१

देव भी तीन बातों की अभिलाषा रखते हैं—मनुष्य-जीवन, आर्य-क्षेत्र में जन्म और श्रेष्ठकुल की प्राप्ति ।

७६२

चार प्रकार के फल—

कुछ फल कच्चे होकर भी मधुर होते हैं । कुछ फल कच्चे होने पर भी पके की तरह अति मधुर होते हैं । कुछ फल पके होकर भी थोड़े मधुर होते हैं और कुछ फल पके होने पर अतिमधुर होते हैं ।

फल के समान ही मनुष्य के भी चार प्रकार होते हैं—कुछ मनुष्य छोटी उम्र में साधारण समझदार होते हैं, कुछ मनुष्य छोटी उम्र में बड़ी उम्रवालों की तरह बुद्धिमान व दक्ष होते हैं । कुछ मनुष्य बड़ी उम्र में भी कम समझदार होते हैं । कुछ मनुष्य बड़ी उम्र में पूर्ण समझदार होते हैं ।

७६३

इस ससार में प्राणियों के लिए चार अग परम दुर्लभ कहे हैं—मनुष्यत्व, श्रुति (धर्म श्रवण) श्रद्धा और सयम में पुरुषार्थ ।

७६४

ससार में आत्माएँ क्रमशः विकास को प्राप्त करते-करते मनुष्यभव को प्राप्त करती हैं ।

७६५

मनुष्य जन्म मिलना अत्यन्त दुर्लभ है ।

७६६

चार प्रकार के मानवीय कर्म से आत्मा मनुष्य जन्म प्राप्त करता है—सहज सरलता, सहज विनम्रता, दयालुता और अमत्सरता ।

७६७

पूर्व संचित कर्मों के क्षय के लिए ही यह देह धारण करनी चाहिए ।

भाषा-विवेक

७६८

अणुवीडभासी से निगथे ।

७६९

अणुचितिय वियागरे ।

७७०

विभज्जवाय च वियागरेज्जा ।

७७१

नाइवेल वएज्जा ।

७७२

इमाइ छ अवयणाइ वदित्तए—

अलियवयणे, हीलियवयणे, खिसितवयणे, फरुसवयणे
गारत्थियवयणे, विउसवित वा पुणो उदीरित्तए ।

७७३

मोहरिए सच्चवयणस्त पलिमथू ।

७७४

जमट्ठ तु न जाणेज्जा, एवमेयति नो वए ।

७७५

मियं अदुट्ठ अणुवीड भासए,
सयाणमज्झे लहई पससण ।

७६८. आचा० २।३।१५।२	७६९. सूत्र० १।९।२५	७७०. सूत्र० १।१४।२२
७७१ सूत्र० १।१४।२५	७७२ स्था० ६।३	७७३. स्था० ६।३
७७४ दश० ७।५५	७७५ दश० ७।५५	

भाषा-विवेक

७६८

जो विचार पुरस्सर बोलता है, वही सच्चा निर्ग्रन्थ है ।

७६९

जो कुछ बोला जाय—पहले विचार कर बोलना चाहिए ।

७७०

चिन्तनशील पुरुष सदा विभज्यवाद अर्थात् स्याद्वाद को सलक्षित कर वचन का प्रयोग करे ।

७७१

साधक आवश्यकता से अधिक न बोले ।

७७२

साधक को छ तरह के वचन नहीं बोलने चाहिये—असत्य वचन, तिरस्कारमय वचन, फिडकते हुए वचन, कर्कश-कठोर वचन, अविचार-पूर्ण वचन, शान्त हुए कलह को फिर से उद्बुद्ध करनेवाले वचन ।

७७३

वाचालता सत्य वचन का विघात करनेवाली होती है ।

७७४

जिस बात का स्वयं को परिज्ञान नहीं है, उस के सम्बन्ध में “यह ऐसा ही है” इस प्रकार निश्चयात्मक वचन न बोले ।

७७५

जो विचार पुरस्सर और परिमित भाषा बोलता है वह सज्जनो द्वारा प्रशंसा प्राप्त करता है ।

७७६

जत्थ सका भवे त तु, एवमेयति नो वए ।

७७७

वइज्ज वुद्धे हियमाणुलोमिय ।

७७८

राइणियस्स भासमाणस्स वा वियागरेमाणस्स वा
नो अतरा भास भासिज्जा ।

७७९

न य वुग्गहिय कह कहिज्जा

७८०

ओहारिणि अप्पियकारिणि च
भास न भासेज्ज सया स पुज्जो ।

७८१

मुहुत्तदुक्खा हु हवति कटया,
अओमया ते वि तओ सुउद्धरा ।
वाया दुरुत्ताणि दुरुद्धराणि,
वेराणुब्रघीणि महब्भयाणि ॥

७८२

अणासए जो उ सहेज्ज कटए ।
वईमए कण्णसरे स पुज्जो ।

७८३

नापुट्ठो वागरे किंचि ।

७८४

वहुय मा य आलवे ।

७७६. दश० ७।९

७७९ दश० १०।१०

७८२ दश० ९३।६

७७७. दश० ७।५६

७८०. दश० ९।३।९

७८३. उत्त० १।१४

७७८ उत्त० २।३।३

७८१. दश० ९।३।७

७८४ उत्त० १।१०

७७६

जिस अर्थ में अपने को कुछ भी शका जैसा लगता हो, उस के बारे में “यह ऐसा ही है” इस प्रकार निश्चित भाषा का प्रयोग न करे ।

७७७

प्रबुद्ध भिक्षु ऐसी भाषा बोले जो सभी के लिए हितकर और प्रियकर हो ।

७७८

अपने से बड़े गुरुजन जब बोलते हो या विचारचर्चा करते हो तो उन के बीच न बोले ।

७७९

कलह बढ़ानेवाली बात नहीं कहनी चाहिए ।

७८०

जो निश्चयकारिणी और अप्रियकारिणी भाषा का प्रयोग नहीं करता वह पूज्य है ।

७८१

लोहे के कांटे अल्पकाल तक दुःख देनेवाले होते हैं और वे भी शरीर से सहजतया निकाले जा सकते हैं । किन्तु दुष्ट और कठोर वाणी-रूपी कांटे सहजतया नहीं निकाले जा सकते, वे जन्म-जन्मान्तर के वैर की परम्परा को बढ़ानेवाले महाभयानक होते हैं ।

७८२

जो कानो में प्रवेश करते हुए वचनरूपी कांटों को सहन करता है, वही पूज्य है ।

७८३

बिना बुलाए बीच में कुछ नहीं बोलना चाहिए ।

७८४

बहुत नहीं बोलना चाहिए ।



७८५

वयगुत्तयाए ण णिव्विकारत्त जणयई ।

७८६

अणणुवीइभासी से निग्गथे,
समावइज्जा मोस वयणाए ।

७८७

नो वयण फरुस वइज्जा ।

७८८

अपुच्छिओ न भासेज्जा ।

७८९

सरम्भे समारम्भे, आरम्भे य तहेव य ।
वय पवत्तमाण तु, नियत्तिज्ज जय जई ।

७९०

न भासेज्जा, भासमाणस्स अन्तरा ।

७९१

मुसाभासा निरत्थिया ।

७९२

दिट्ठं मिअ असदिद्ध, पडिपुन्न विअजिअ ।

७९३

सुवक्कसुद्धि समुपेहिया मुणी,
गिर च दुट्ठ परिवज्जए सया ।

७८५ उत्त० २९।५४

७८६ आचा० २।३।१५।२

७८७ आचा० २।१।६

७८८ दश० ८।४७

७८९ उत्त० २४।२३

७९०. दश० ८।४७

७९१ उत्त० १८।२६

७९२. दश० ८।४६

७९३ दश० ७।५५

७८५

वचनगुप्ति से निर्विकार-अवस्था प्राप्त होती है ।

७८६

जो साधक विचार पुरस्सर नहीं बोलता, उसका वचन कभी न कभी असत्य के दूषण से दूषित हो सकता है ।

७८७

कभी कठोर वचन नहीं बोलना चाहिए ।

७८८

बिना पूछे नहीं बोलना चाहिए ।

७८९

यतनाशील यति सरम्भ, समारम्भ और आरम्भ में प्रवर्तमान वाणी का निवर्तन-नियन्त्रण करे ।

७९०

गुरुजन किसी से बातचीत कर रहे हों, तब बीच में नहीं बोलना चाहिए ।

७९१

झूठवाली भाषा निरर्थक है ।

७९२

आत्मार्थी साधक दृष्ट [अनुभूत] परिमित, अमदिग्ध, परिपूर्ण, और स्पष्ट वाणी का प्रयोग करे ।

७९३

मुनि सदा वचन-शुद्धि का विचार करे तथा दोषयुक्त वाणी का परित्याग करे ।

७६४

भासाइ दोसे य गुणेय जाणिया,
तीमे य दुट्ठे परिवज्जए सया ।

७६५

पिट्ठिमस न खाइज्जा ।

७६६

न लविज्ज पुट्ठो सावज्ज, न निरट्ठा न मम्मयं ।
अप्पणट्ठा परट्ठा वा, उभयस्संतरेण वा ॥

७६७

देवाण मणुयाण च, तिरियाण च वुग्गहे ।
अमुगाण जओ होउ, मा वा होउ त्ति नो वए ॥

७६४

भाषा के दोष और गुणों को जानकर दोषपूर्ण भाषा को सदा के लिए छोड़ देना चाहिये ।

७६५

किसी की पीठ पीछे चुगली नहीं खाना चाहिए, क्योंकि यह दोष पीठ का मांस नोचने के समान है ।

७६६

यदि कोई पूछे तो अपने लिये अथवा अन्य के लिये, अथवा—दोनों के लिए, स्वप्रयोजन अथवा निष्प्रयोजन, पाप एवं निरर्थक वचन नहीं बोलना चाहिये । न मर्मभेदी वचन ही बोलना चाहिये ।

७६७

देव, मनुष्य तथा तिर्यच—जब परस्पर युद्ध करते हो तब—इसकी जय हो और इस की पराजय हो—ऐसा वचन नहीं बोलना चाहिए । क्योंकि ऐसा बोलने से एक प्रसन्न होता है और दूसरा नाराज । ऐसी दुःख की स्थिति साधक को उपस्थित करना उपयुक्त नहीं है । ●

रात्रिभोजन त्याग

७६८

अत्थगयमि आडच्चे, पुरत्था य अणुग्गए ।
आहारमाइय सव्व, मणसा वि न पत्थए ॥

७६९

सन्तिमे सुहुमा पाणा, तसा अदुव थावरा ।
जाइं राओ अपासंतो, कहमेसणिय चरें ॥

८००

उदउल्ल वीयससत्तं, पाणा निव्वडिया मंहि ।
दिया ताइ विवज्जेज्जा, राओ तत्थ कह चरे ॥

८०१

चउव्विहे वि आहारे, राईभोयण वज्जणा ।
सन्निही-सचओ चेव, वज्जेयव्वो सुदुक्करं ॥

८०२

अग्ग वणिएहि आहिय, धारति राइणिया इह ।
एव परमामहव्वया, अक्खाया उ सराइभोयणा ॥

८०३

राईभोयणविरओ, जीवो भवइ अणासवो ।

८०४

सव्वाहार न भुजति, निग्गथा राइभोयणं ।

रात्रिभोजन त्याग

७६८

सयमी-आत्मा सूर्यास्त से लेकर पुन सूर्योदय तक सब प्रकार के आहार की मन से भी इच्छा न करे ।

७६९

ससार मे बहुत से त्रस और स्थावर प्राणी अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं, वे रात्रि मे दृष्टिगत नहीं होते, तो रात्रि मे भोजन कैसे किया जा सकता है ?

८००

कहीं जमीन पर कुछ पड़ा होता है, कहीं बीज बिखरे होते है और कहीं पर सूक्ष्म कीड़े-मकोड़े होते हैं, दिन मे तो उन्हें टाला जा सकता है, किन्तु रात्रि मे उन्हें बचा कर भोजन कैसे किया जा सकता है ?

८०१

अन्न आदि चतुर्विध आहार का रात्रि मे सेवन नहीं करना चाहिए तथा दूसरे दिन के लिए भी रात्रि मे खाद्य पदार्थ का संग्रह करना निषिद्ध है । अतः रात्रि भोजन का त्याग वास्तव मे बड़ा दुष्कर है ।

८०२

जिस प्रकार दूर-देशान्तर से व्यापारी द्वारा लाये हुए बहुमूल्य रत्नों को राजा लोग ही धारण कर सकते हैं । इसी प्रकार तीर्थंकर द्वारा कथित रात्रि-भोजन त्याग के साथ पञ्चमहाव्रतों को कोई विशिष्ट आत्मा ही धारण कर सकती है ।

८०३

रात्रि-भोजन के त्याग से जीव अनाश्रव होता है ।

८०४

निर्यन्त्र मुनि, रात्रि के समय किसी भी प्रकार का आहार नहीं करते ।

विषयभोग-मुक्ति

८०५

उवलेवो होइ भोगेसु, अभोगी नोवलिप्पई ।

८०६

खणमित्तसुक्खा बहुकालदुक्खा ।

८०७

खाणी अणत्थाण उ काम भोगा ।

८०८

कामे पत्थेमाणा अकामा जति दुग्गइ ।

८०९

सन्व अप्पे जिए जिय ।

८१०

कामेसु गिद्धा निचय करेति ।

८११

सन्वे कामा दुहावहा ।

८१२

अज्झत्थ हेउ निययस्स वधो ।

८१३

सत्तल कामा विस कामा, कामा आसीविसोवमा ।

८०५. उत्त० २५।४१

८०६. उत्त० १४।१३

८०७ उत्त० १४।१३

८०८ उत्त० ६।५३

८०९ उत्त० ६।३६

८१० आचा० १।३।२

८११ उत्त० १३।१६

८१२ उत्त० १४।१६

८१३. उत्त० ६।५३

विषयभोग-मुक्ति

८०५

जो भोगी है, वह कर्मों से लिप्त होता है और जो अभोगी है, भोगासक्त नहीं है, वह कर्मों से लिप्त नहीं होता ।

८०६

काम-भोग क्षण-मात्र सुख देनेवाले हैं, और बदले में चिर-काल तक दुःख देनेवाले हैं ।

८०७

काम-भोग अनर्थों की खान है ।

८०८

काम-भोग की लालसा रखनेवाले प्राणी उन्हें प्राप्त किये बिना ही अतृप्त-दशा में एक दिन दुर्गति को प्राप्त हो जाते हैं ।

८०९

एक अपने (विकारों) को जीतने पर सबको जीत लिया जाता है ।

८१०

काम-भोगों में आसक्त प्राणी कर्मोंका बन्धन करते हैं ।

८११

सभी काम-भोग अन्ततः दुःख देनेवाले ही होते हैं ।

८१२

यथार्थ में बन्धन के हेतु—अन्तर के विकार ही होते हैं ।

८१३

काम-भोग शल्य-रूप है, विषरूप है और विषधर सर्प के समान है ।

८१४

जहा किपागफलाण, परिणामो न सुन्दरो ।
एवं भुत्ताण भोगाण, परिणामो न सुन्दरो ॥

८१५

समेमाणा पलेमाणा, पुणो पुणो जाइ पकप्पति ।

८१६

सव्व विलविय, गीय, सव्व नट्ट विडम्बिय ।
सव्वे आभरणा भारा, सव्वे कामा दुहावहा ॥

८१७

गिद्धोवमे उ नच्चाण, कामे संसारवड्ढणे ।
उरगो सुवण्णपासे व, सकमाणो तणु चरे ॥

८१८

अणोहतरा एए नो य ओह तरित्तए ।

८१९

कामाणुगिद्धिप्पभव खु दुक्ख ।
सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स ॥

८२०

न लिप्पई भवमज्झे वि सतो,
जलेण वा पोक्खरिणीपलास ॥

८२१

विरत्ता हु न लग्गति, जहा से सुक्कगोलए ।

८१४ उत्त० १९।१७

८१५. आचा० ६।४।३

८१६ उत्त० १३।१६

८१७. उत्त० १४।४७

८१८ आचा० १।२।३

८१९ उत्त० ३२।१९

८२०. उत्त० ३२।४७

८२१ उत्त० २५।४२

८१४

जैसे किपाक फलो का परिणाम सुन्दर नहीं होता, उसी प्रकार भोगे हुए भोगो का परिणाम सुन्दर नहीं होता ।

८१५

ससार के भोगो मे आसक्त रहनेवाले प्राणी पुन-पुन जन्म-मरण को प्राप्त करते रहते हैं ।

८१६

सभी गीत विलाप हैं, सभी नाच-रग विडम्बना है, और सभी आभूषण शरीर पर बोझरूप हैं । अधिक क्या, ससार के सभी काम-भोग अन्त मे दुख ही देनेवाले हैं ।

८१७

गीघ पक्षी के दृष्टान्त को जानकर विवेकी मनुष्य काम भोग को ससारवर्धन का हेतु समझे । तथा उनसे उसी प्रकार शक्ति होकर चलना चाहिए, जिस प्रकार गरुड के सामने सर्प शक्ति हो कर चलता है ।

८१८

जो मनुष्य वासना के प्रवाह को नहीं तैर सकते हैं, वे ससार के प्रवाह को कभी नहीं तैर सकते ।

८१९

ससार मे देवताओ सहित सभी प्राणियो मे जो दुख देखे जाते है वे सब कामासक्ति के कारण ही हैं ।

८२०

जो आत्मा विषयो के प्रति उदास—अनासक्त है वह ससार मे रहता हुआ भी उस मे लिप्त नहीं होता । जैसे कमलिनी का पत्र जल मे रहते हुए भी उन से विलग रहता है ।

८२१

मिट्टी के सूखे गोले के समान जो साधक विरक्त है, वह कही भी नहीं चिपकता अर्थात् आसक्त नहीं होता ।

८२२

आतुरा परितावेति ।

८२३

लद्धे कामे न पत्येज्जा ।

८२४

भोगेहिं य निरवेक्खा, तरति ससारकतार ।

८२५

वत इच्छसि आवेउ, सेय ते मरण भवे ।

८२६

सन्ता इह काममुच्छिया, मोह जन्ति नरा असबुडा ।

८२७

दुप्परिच्चया इमे कामा, नो सुजहा अधीरपुरिसेहिं ।

८२८

सव्वेसु कामजाएसु, पासमाणो न लिप्पइ ताई ।

८२९

भोगा इमे सगकरा हवति ।

८३०

बुद्धो भोगे परिच्चयइ ।

८३१

काम-भोगरसगिद्धा, उववज्जन्ति आसुरे काए ।

८२२. आचा० १।१।६

८२३ सूत्र० १।९।३२

८२४ ज्ञाता० १।९

८२५ दण० २।७

८२६. सूत्र० १।२।१।१०

८२७ उत्त० ८।६

८२८ उत्त० ८।४

८२९. उत्त० १३।२७

८३०. उत्त० ९।३

८३१ उत्त० ८।१४

८२२

विषयातुर आत्मा ही दूसरे प्राणियों को सताप पहुँचाते हैं ।

८२३

कामभोग प्राप्त होने पर भी उन की कामना न करे ।

८२४

जो मनुष्य विषय भोगों से विरक्त (उदास) रहते हैं, वे दुस्तर ससार-वन को पार कर जाते हैं ।

८२५

वमन किये हुये [त्यक्त विषयो] को फिर से पीने की इच्छा करते हो, इससे तो तुम्हारा मरना श्रेय है ।

८२६

ससारासक्त तथा विषय-भोगों में मूर्च्छित असयमी मनुष्य बार-बार मोह को प्राप्त होते रहते हैं ।

८२७

काम-भोगों का त्याग करना अत्यन्त कठिन है । अधीर पुरुष तो इन्हे सरलता से छोड़ ही नहीं सकते ।

८२८

काम-भोगों के सब प्रकारों में दोष देखता हुआ भी आत्म-रक्षक-साधक उन में कभी लिप्त नहीं होता ।

८२९

ये काम-भोग कर्मों का बन्ध करनेवाले हैं ।

८३०

ज्ञानी-पुरुष ही भोग का परित्याग कर सकता है ।

८३१

जो साधक काम-भोग के रस में आसक्त हो जाते हैं वे असुरजाति निम्न श्रेणी के देवों में उत्पन्न होते हैं ।

८३२

अदक्खु कामाइ रोगव ।

८३३

चउच्चिहा कामा पण्णत्ता, तजहा —
 सिगारा, कलुणा, वीभच्छा, रोद्धा ।
 सिगारा कामा देवाण, कलुणा कामा मणुयाण,
 वीभच्छा कामा तिरियाण, रोद्धाकामा णेरइयाण ।

८३४

भोगी भोगे परिच्चयमाणे महाणिज्जरे-
 महापज्वसाणे भवइ ।

८३५

जहा कुसग्गे उदग समुद्देण सम मिणे ।
 एव माणुस्सगा कामा, देवकामाण अन्तिए ॥

८३६

जहा य किंपागफला मणोरमा,
 रसेण वण्णेण य भुज्जमाणा ।
 ते खुड्डए जीविय पच्चमाणा,
 एसोवमा कामगुणा विवागे ॥

८३७

अप्पमत्तो कामेहि, उवरतोपावकम्मेहि,
 वीरे आय - गुत्ते से खेयन्ते ।

८३८

वहु-दुक्खा हु जतवो, सत्ता कामेहि माणवा ।

८३९

भोगी भमइ ससारे, अभोगी विप्पमुच्चई ।

८३२

आत्म-विद् साधको ने काम-भोगो को रोगयुक्त देखे हैं ।

८३३

चार प्रकार के काम कहे हैं—शृ गार, करुण, वी भत्स और रौद्र । देवो के काम-शब्दादि अत्यन्त मनोज्ञ रति-रस के उत्पादक होने से शृ गार कहलाते हैं । मनुष्यों का शरीर शुक्र-शोणित से बना हुआ होने से उन के काम क्षणिक हैं, अतः करुण कहे गये हैं । तिर्यंचो के काम घृणोत्पादक हैं, अतः वे वी भत्स माने गये हैं और नारको के काम क्रोध के कारण होने से रौद्र गिने गये हैं ।

८३४

जो व्यक्ति भोग समर्थ होते हुए भी भोगो का परित्याग करता है, वह कर्मों की महान् निर्जरा करता है तथा मोक्षरूपी महाफल को प्राप्त करता है ।

८३५

मनुष्य सम्बन्धी काम-भोग, देव सम्बन्धी काम-भोगो की तुलना में वैसे ही हैं, जैसे कोई व्यक्ति कुश की नोक पर टिके हुए जल-बिन्दु की समुद्र से तुलना करता है ।

८३६

जैसे किपाक फल रूप, रग और रस की दृष्टि से प्रारम्भ में खाते समय तो अत्यन्त मधुर और मनोरम लगते हैं किन्तु बाद में जीवन के नाशक हैं, वैसे ही काम-भोग भी प्रारम्भ में बड़े मीठे और मनोहर प्रतीत होते हैं, किन्तु विपाककाल में अत्यन्त दुःख प्रद सिद्ध होते हैं ।

८३७

जो काम-भोगो में नहीं फँसता, पापकर्मों से पृथक् रहता और अपनी आत्मा को पतन के गर्त से बचाता है, वही साधक वीर है, आत्मरक्षक है, विद्वान् तथा कुशल है ।

८३८

ससारी आत्मा दुःखों से घिरी रहती है, तथापि वे काम-भोगो में आसक्त बनी रहती है ।

८३९

भोगी ससार में परिभ्रमण करता है, अभोगी मसार से मुक्त होता है ।

पाप-परिणाम

८४०

यणति लुप्पति तसति कम्मी ।

८४१

पडति नरए घोरे, जे नरा पावकारिणो ।

८४२

से जाणमजाण वा, कट्टु आहम्मिय पय ।
सवरे खिप्पमप्पाण, वीय त न समायरे ॥

८४३

कड् कडेत्ति भासेज्जा, अकड नो कडेत्ति य ।

८४४

पावाउ अप्पाण निवट्टएज्जा ।

८४५

पाणाइ वायमलिय, चोरिवक मेहुण दवियमुच्छ ।
कोहं माणं माय, लोभं पिज्ज तहा दोस ॥
कलह अव्वभवखाण, पेसुन्न रइ-अरइसमाउत्त ।
परपरिवाय माय-मोस मिच्छत्तसल्ल च ॥

८४० सूत्र० ७।२०

८४१ उत्त० १।२५

८४२. दण० ८।३१

८४३ उत्त० १।११

८४४. सूत्र० १०।२१

८४५ आव० ४

पाप-परिणास

८४०

जो आत्मा पापकर्म का उपार्जन करते हैं, उन्हें रोना पड़ता है, दुःख भोगना पड़ता है और भयभीत होना पड़ता है ।

८४१

जो मनुष्य पाप करते हैं वे भयकर घोर नरक में जाते हैं ।

८४२

यदि विवेकी मनुष्य जान-अनजान में कोई अधर्म-कृत्य कर बैठे, तो अपनी आत्मा को शीघ्र उसमें मोड़े और फिर दुबारा वैसा कार्य न करे ।

८४३

पूछने पर किये हुए पाप कर्म को छिपाना नहीं चाहिए, किये हुए को किया तथा नहीं किये हुए को न किया हुआ कहना चाहिए ।

८४४

माघक पापकर्मों से आत्मा को हटा ले ।

८४५

पाप के अठारह प्रकार हैं—(१) प्राणातिपात-हिंसा (२) झूठ (३) चोरी (४) मैथुन (५) परिग्रह (६) क्रोध (७) मान (८) माया (९) लोभ (१०) राग (११) द्वेष (१२) कलह (१३) दोषारोपण (१४) चुगली (१५) असयम में रति-सुख और सयम में अरति-असुख (१६) परनिंदा (१७) कपटपूर्ण झूठ (१८) मिथ्यादर्शन शल्य ।

८४६

पच्छाणुतावेण विरज्जमाणे,
करणगुण - सेढि पडिवज्जइ ।

८४७

पावे कम्मे जे य कडे जे य कज्जई,
जे य कज्जिस्सई, सव्वे से दुक्खे ।

८४८

तयस व जहाइ से रय,
इइ सखाय मुणी न मज्जई ।

८४९

आयकदसी न करेइ पाव ।

८४६

किये हुए पापकर्म के पश्चात्ताप से जीव वैराग्यवत् होकर क्षपक-श्रेणी प्राप्त करता है ।

८४७

जीवो द्वारा जो पाप किया गया है, किया जा रहा है तथा किया जायेगा वह सब दुःख का मूल हेतु है ।

८४८

जिस प्रकार नाग काचली को छोड़ देता है, उसी प्रकार सन्तपुरुष पाप रज को झाड़ देते हैं ।

८४९

जिसने ससार के दुःखों का स्वरूप ठीक तरह से जान लिया है, वह कभी पाप कर्म नहीं करता है ।

अज्ञान

८५०

सुत्ता अमुणी, मुणिणो सया जागरन्ति ।

८५१

लोयसि जाण अहियाय दुक्ख ।

८५२

जहा हि अघे सह जोतिणावि,
रुवादि णो पस्सति हीणणेत्ते ।

८५३

आसुरीयं दिस वाला, गच्छति अवसा तमं ।

८५४

वितहं पप्पखेयन्ने,
तम्मि ठाणम्मि चिट्ठइ ।

८५५

अप्पणो य पर नाल, कुतो अन्नाणुसासिउ ।

८५६

न कम्मणा कम्म खवेति वाला ।

८५७

मन्दा निरय गच्छन्ति, वाला पावियाहिं दिट्ठीहिं ।

८५८

मदा विसीयति, उज्जाणसि व दुव्वला ।

८५० आचा० १।३।१

८५१ आचा० १।३।१

८५२. सूत्र० १।१२।८

८५३ उक्त० ७।१०

८५४ आचा० १।२।३

८५५ सूत्र० १।२।१७

८५६ सूत्र० १।१२।१५

८५७ उक्त० ८।७

८५८ सूत्र० ३।२।२०

अज्ञान

८५०

अज्ञानी सदा सोये रहते हैं, और ज्ञानी सदा जागते रहते हैं ।

८५१

यह समझ लीजिए कि अज्ञान तथा मोह ही ससार में अहित और दुःख पैदा करने वाला है ।

८५२

जिस प्रकार नेत्र हीन—अन्ध व्यक्ति प्रकाश होते हुये भी बाह्य दृश्य कुछ भी नहीं देख पाता है, उसी प्रकार प्रज्ञाहीन मनुष्य शास्त्र ज्ञान समक्ष होते हुए भी सत्यासत्य का निर्णय नहीं कर सकता ।

८५३

अज्ञानी जीव अन्धकारयुक्त आसुरीगति को प्राप्त होते हैं ।

८५४

अज्ञानी मनुष्य जब सभी मिथ्या विचारों को सुन लेता है तो वह उन्हीं में उलझ-पुलझ कर रह जाता है ।

८५५

अज्ञानी जीव स्वयं के ऊपर भी अनुशासन नहीं कर सकता, दूसरों पर तो करने का सवाल ही क्या ?

८५६

अज्ञानी आत्मा अपने कर्मों के द्वारा कर्मों का विनाश नहीं कर सकते ।

८५७

मन्दबुद्धिवाले तथा अज्ञानी पुरुष अपनी पापमयी दृष्टि के कारण ही नरक में जाते हैं ।

८५८

ऊँची भूमि पर चढ़ते हुए, दुर्बल बैलों की भाँति अज्ञानात्मा सकट काल में विषाद को प्राप्त होते हैं ।

८५६

जहा अस्साविणि णाव, जाइअघो दुरुहिया ।
इच्छई पारमागतु, अतरा य विसीयई ॥

८६०

मदा विसीयति, मच्छा विट्ठा व केयणे ।

८६१

तिविहा मूढा पणत्ता त जहा—
णाणमूढा, दसणमूढा, चरित्तमूढा ।

८६२

वालस्स पस्स वालत्त, अहम्म पडिवज्जिया ।
चिच्चा धम्म अहम्मिट्ठे, नरए उववज्जई ॥

८६३

धीरस्स पस्स धीरत्त, सव्वधम्माणुवत्तिणो ।
चिच्चा अधम्म धम्मिट्ठे, देवेसु उववज्जई ॥

८६४

अणागयमपस्सन्ता, पच्चुप्पन्नगवेसगा ।
ते पच्छा परितप्पन्ति, खीणे आउम्मि जोव्वणे ॥

८५६

अज्ञानी माधक उस जन्मान्ध व्यक्ति के समान है जो छिद्रवाली नौका पर चढ़कर नदी किनारे पहुँचना तो चाहता है किंतु किनारा आने के पूर्व ही बीच प्रवाह में डूब जाता है ।

८६०

जाल में फँसी हुई मछलियों की तरह अज्ञानात्मा विषाद को प्राप्त होते हैं ।

८६१

मूर्ख तीन प्रकार के कहे हैं—ज्ञान से मूर्ख, (ज्ञान हीन) दर्शन से मूर्ख (श्रद्धा हीन) चारित्र्य से मूर्ख (आचरण हीन) ।

८६२

हे मनुष्य ! तू बाल—अज्ञानी जीव की मूर्खता को देख, वह अधर्म को ग्रहण कर, धर्म को छोड़, अधर्मिष्ठ बन कर नरक में उत्पन्न होता है ।

८६३

हे मनुष्य तू सब धर्मों का परिपालन करनेवाले धीर पुरुष की धीरता को देख, वह अधर्म को छोड़ धर्मिष्ठ बन कर देवों में उत्पन्न होता है ।

८६४

जो मनुष्य भविष्य में होने वाले दुखों की तरफ न देख कर केवल वर्तमान-सुख को ही खोजते हैं । वे आयु और यौवन काल बीत जाने पर पश्चात्ताप करते हैं ।



ज्ञानी-अज्ञानी

८६५

रागदोसस्सिया वाला, पाव कुव्वति ते वहु ।

८६६

नकम्मुणा कम्म खवेन्ति वाला,
अकम्मुणा कम्म खवेति धीरा ।

८६७

एएसु वाले य पकुव्वमाणे,
आवट्ठई कम्मसु पावएसु ।

८६८

समिक्ख पडिए तम्हा, पास जाइपहे वहु ।
अप्पणा सच्चमेसेज्जा, मेत्ति भूएसु कप्पए ॥

८६९

वित्त पसवो य नाइओ, त वाले सरणति मन्नइ ।
एते मम तेसुवि अह, नो ताण सरण न विज्जई ॥

८७०

जहा जुन्नाइ कट्ठाइ हव्ववाहो पमत्थति,
एव अत्तसमाहिए अणिहे ।

८६५ सूत्र० १।८।८

८६८ उक्त० ६।२

८६६. सूत्र० १।१२।१५

८६९. सूत्र० १।२।३।१६

८६७ १।१०।५

८७०. आचा० १।४।३

ज्ञानी-अज्ञानी

८६५

बाल-अज्ञानी जीव राग-द्वेष के अधीन हो कर बहुत पाप-कर्म का उपार्जन करते हैं ।

८६६

अज्ञानी जीव की प्रवृत्तियाँ तो अनेक होती हैं पर वे सभी कर्मोत्पादक होने से पूर्ववद्ध कर्मों का क्षय नहीं कर पाती । जबकि धीर पुरुषों की प्रवृत्तियाँ अकर्मोत्पादक होने से अपने पूर्ववद्ध कर्मों को क्षीण कर सकती हैं ।

८६७

पृथ्वी अप आदि जीवों के साथ दुर्व्यवहार करता हुआ बाल जीव पाप-कर्मों में आसक्त होता है ।

८६८

[अतः] पण्डित पुरुष बहुत प्रकार के जाति-पथों का विचार करके अपनी आत्मा के द्वारा सत्य का अन्वेषण करें, और सभी जीवों के प्रति मैत्री का आचरण करें ।

८६९

बाल जीव की ऐसी मान्यता है कि धन, पशु तथा स्वजन सम्बन्धी मेरा संरक्षण करेंगे । वे मेरे हैं तथा मैं उनका हूँ किंतु इस प्रकार उसकी रक्षा नहीं होती ।

८७०

जिस प्रकार पुरानी व सूखी लकड़ियों को आग शीघ्र ही जला देती है, उसी प्रकार आत्म-निष्ठ तथा मोहरहित साधक कर्म रूपी काष्ठ को जला डालता है ।

८७१

तुलियाण वालभाव, आवाल चेव पडिए ।
चइऊण त्रालभाव, अवाल सेवई मुणी ॥

८७२

पमाय कम्ममाहसु अप्पमाय तहावर ।
तब्भावादेसओ वा वि, वालं पडियमेव वा ॥

८७३

ज किंचुवक्कमं जाणे, आउक्खेमस्स अप्पणो ।
तस्सेव अन्तराखिप्प, सिक्ख सिक्खेज्ज पण्डिए ॥

८७४

वाले य मन्दिए मूढे, वज्झई मच्छिया व खेलम्मि ।

८७५

न मे दिट्ठे परे लोए, चक्खुदिट्ठा इमा रई ।

८७६

लुप्पन्ति बहुसो मूढा, ससारम्मि अणन्तए ।

८७१

पण्डित मुनि बाल-भाव और अवाल-भाव की तुलना करे, और बाल-भाव को छोड़कर अवाल-भाव का सेवन करे ।

८७२

अनन्त ज्ञानी आत्माओं ने प्रमाद को कर्मोपादान का कारण बतलाया है और अप्रमाद को कर्मक्षय का । इसी कर्मोपादान और कर्मक्षय के कारण ही मनुष्य को बाल और पण्डित कहा जाता है ।

८७३

यदि पण्डित पुरुष किसी प्रकार अपनी आयु का क्षय काल जान ले, तो उससे पूर्व शीघ्र ही वह सलेखनारूप शिक्षा को अपना ले ।

८७४

अज्ञानी और मन्दमति मूढ जीव ससार में उसी प्रकार फँस जाते हैं जैसे श्लेष्म-कफ में मक्खी ।

८७५

अज्ञानी जन ऐसा सोचते हैं कि परलोक हमने देखा नहीं है किन्तु यह विद्यमान काम-भोग का आनन्द तो चक्षु-दृष्ट है, आँखों के सामने है ।

८७६

मूढ प्राणी इस अनत ससार में बार-बार लुप्त होते रहते हैं अर्थात् जन्म मरण करते रहते हैं ।



अप्रमाद

८७७

दुमपत्तए पडुयए जहा,
निवडइ राइगणाण अच्चए ।
एव मणुयाण जीवियं,
समय गोयम ? मा पमायए ।

८७८

कुसग्गे जह ओसबिन्दुए, थोव चिट्ठइ लम्बमाणए ।
एव मणुयाण जीविय, समय गोयम । मा पमायए ॥

८७९

परिजूरइ ते सरीरय, केसा पडुरया ह्वन्ति ते ।
से सव्ववले य हायइ, समय गोयम । मा पमायए ॥

८८०

तिण्णो हु सि अण्णव मह,
किं पुण चिट्ठसि तीरमागओ ।
अभितुर पार गमित्तए,
समय गोयम । मा पमायए ॥

८८१

अल कुसलस्स पमाएण ।

८८२

सएण विप्पमाएण पुढो वय पकुव्वह ।

८७७ उक्त० १०।१

८७८ उक्त० १०।२

८७९ उक्त० १०।२६

८८० उक्त० १०।३४

८८१. आचा० १।२।४

८८२ आचा० १।२।६

अप्रमाद

८७७

रात्रियाँ बीत जाने पर वृक्ष का पका हुआ पान, जिस प्रकार गिर जाता है, उसी प्रकार मनुष्य का जीवन एक न एक दिन समाप्त हो जाता है । इसलिए हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर ।

८७८

कुश की नोक पर स्थित ओसविन्दु की अवधि जैसे थोड़ी होती है, वैसे ही मनुष्य जीवन की गति है । अतः हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर ।

८७९

तेरा शरीर जीर्ण हो रहा है, केश श्वेत हो रहे हैं और पूर्ववर्ती बल भी क्षीण हो रहा है, अतः हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर ।

८८०

नि सन्देह तू महान् ससार-सागर को तैर गया है, अब तट के निकट पहुँच कर क्या खड़ा है ? उस पार जाने के लिए जल्दी कर । हे गौतम ! तू क्षण मात्र का भी प्रमाद मत कर ।

८८१

प्रज्ञाशील-साधक को अपनी साधना में किञ्चित् भी प्रमाद नहीं करना चाहिए ।

८८२

मनुष्य स्वयं की भूलो—प्रमाद से ससार की विचित्र दशा में उलभ जाता है ।

८८३

भारण्डपक्खी व चरप्पमत्तो ।

८८४

तम्हा गुणी खिप्पमुवेइ मोक्ख ।

८८५

अप्पाण-रक्खी चरमप्पमत्तो ।

८८६

मज्ज विसय कसाया, निद्दा विगहा य पचमी भणिया ।
इअ पचविहो ऐसो होई पमाओ या अप्पमाओ ॥

८८७

अणणपरम नाणी, नो पमायए कयाइ वि ।

८८८

सव्वओ पमत्तस्स भय,
सव्वओ अपमत्तस्स नत्थि भयं ।

८८९

जे छेय से विप्पमाय न कुज्जा ।

८९०

धीरे मुहुत्तमवि णो पमायए ।

८९१

असखय जीविय मा पमायए !

८९२

विहुणाहि रय पुरे कड, समय गोयम ! मा पमायए !

८९३

उट्ठिए नो पमायए ।

८८३ उक्त० ४।६

८८६. उक्त० नि० १८०

८८९. सूत्र० १।१४।२

८९२ उक्त० १०।३

८८४ उक्त० ४।८

८८७ आचा० ३।३।४

८९०. आचा० १।२।१

८९३ आचा० १।५।२

८८५ उक्त० ४।१०

८८८. आचा० १।३।४

८९१ उक्त० ४।१

८८३

भारण्ड पक्षी की भाँति साधक अप्रमत्त होकर विचरण करे ।

८८४

अप्रमत्त होकर विचरण करने वाला मुनि शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त होता है ।

८८५

आत्मरक्षक और अप्रमत्त होकर विचरण करो ।

८८६

मद्य, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा—ये पाँच प्रकार के प्रमाद कहे हैं, इन से विरक्त होना ही अप्रमाद है ।

८८७

सम्यग्दृष्टि आत्मा चरित्र पथ में कभी भी प्रमाद न करे ।

८८८

प्रमत्त आत्मा को सभी ओर भय रहता है । जबकि अप्रमत्त को किसी भी ओर भय नहीं रहता है ।

८८९

चतुर नर वही है जो कभी प्रमाद का सेवन न करे ।

८९०

धीर साधक मुहूर्त भर के लिए भी प्रमाद न करे ।

८९१

जीवन का धागा नाजुक है, टूट जाने पर वह पुन जुड़ नहीं सकता । अतः जरा भी प्रमाद मत करो ।

८९२

पूर्व भव-संचित कर्मों की रज दूर करने के लिए हे गौतम ! तू समय मात्र का भी प्रमाद मत कर ।

८९३

जो साधक एक द्वार अपने कर्तव्य-पथ पर उठ खड़ा हुआ है, उसे फिर प्रमाद का सेवन नहीं करना चाहिए ।

तृष्णा

८६४

भवतण्हा लया बुत्ता, भीमा भीम फलोदया ।

८६५

मट्टाणुगा साणुगए या जीवे, चराचरे हिंसइ णेरुवे ।
चित्तेहि ने परितावेइ वाले, पीलेइ अतट्ठगुरु किलिट्ठे ।

८६६

मट्टाणुवाएण परिग्गहेण, उप्पायणे रक्खणसन्निओगे ।
वाए वियोगे य कह्नुह मे, मंभोगकाले य अतित्तलाभे ॥

८६७

मट्टे अनित्ते य परिग्गहम्मि, सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठि ।
अत्तुट्ठिदोणेण दुहो परम्म, लोभाविले आययई अदत्त ॥

८६८

मट्टाभिभूगम्म अदत्तज्जाणिओ, मट्टे अतित्तस्स परिग्गहे य ।
मत्तामृम वट्ठट्ठ लोभदोसा, नत्थाविदुग्गवा न विमुच्चई मे ॥

८६९

मोमम्म पन्था य गुरुत्थओ य पयोमयाने य दुहो दुरत्ते ।
मत्त अद्वारिण ममायवती, मट्टे अनित्तो दुह्मिओ अणिम्मो ॥

८६४ अ० ३२।४८

८६५ अ० ३२।४९

८६६ अ० ३२।५०

८६७ अ० ३२।५१

८६८ अ० ३२।५२

८६९ अ० ३२।५३

तृष्णा

८६४

संसार की तृष्णा महा-भयकर फल देने वाली विष-वेल है ।

८६५

मनोज्ञ शब्द की तृष्णा के वशीभूत अज्ञानी पुरुष अपने स्वार्थ के लिए अनेक प्रकार के त्रस स्थावर जीवों की हिंसा करता है । उन्हें कई प्रकार से परितप्त और पीड़ित करता है ।

८६६

शब्द में अनुराग और ममत्व भाव होने के कारण मनुष्य परिग्रह के उत्पादन, रक्षण और प्रबन्ध की चिन्ता करता है । उसका व्यय और वियोग होता है, अतः इन सब में उसे सुख कहाँ है ? और तो क्या ? उसके उपभोग काल में भी उसे तृप्ति नहीं मिलती ।

८६७

शब्दादि विषयों में जो अतृप्त होता है, उसके परिग्रहण में आसक्त, उपासक्त होता है, उसे सतोष प्राप्त नहीं होता, वह असतोष के कारण दुःखी और लोभग्रस्त होकर दूसरों की मूल्यवान् वस्तुएँ चुरा लेता है ।

८६८

तृष्णा से अमिभूत—चौर्य-कर्म में प्रवृत्त और शब्दादि विषयों तथा परिग्रहण में अतृप्त पुरुष लोभ-दोष से माया और मृपा की वृद्धि करता है । तथापि वह दुःख से मुक्त नहीं होता ।

८६९

मृपावाद के पहले और पीछे तथा बोलते समय वह दुःखी होता है, चोरी में प्रवृत्त और शब्दादि में अतृप्त हुई आत्मा दुःख को प्राप्त होती है । तथा उसका कोई भी सरक्षक नहीं होता ।

६००

अणेगचित्ते खलु अय पुरिसे,
से केयण अरिहए, पूरइत्तए ।

६०१

कामा दुरतिक्कम्मा ।

६०२

इह लोए निप्पिवासस्स, नत्थि किचि वि दुक्कर ।

६०३

कह न कुज्जा सामण्ण, जो कामे न निवारए ।

६०४

विणीय तण्हो विहरे ।

६०५

से हु चवखू मणुस्साण, जे कखाए य अतए ।

६०६

मेहावी अप्पणो गिद्धिमुद्धरे ।

६००

यह पुरुष अनेक चित्त है अर्थात् अनेकानेक कामनाओं के कारण मनुष्य का मन यत्र-तत्र बिखरा हुआ रहता है। जैसे किसी व्यक्ति का छलनी में जल भरना शक्य नहीं लगता, वैसे ही अपनी कामनाओं की पूर्ति करना शक्य नहीं है।

६०१

कामनाओं का पार पाना अत्यन्त कठिन है।

६०२

इस लोक में जो तृष्णा रहित है, उसके लिए कुछ भी कठिन नहीं है।

६०३

जो अपनी कामनाओं—इच्छाओं को रोक नहीं पाता, वह भला साधना कैसे कर पायेगा ?

६०४

मुमुक्षु आत्मा को तृष्णा रहित होकर विचरण करना चाहिए।

६०५

वही व्यक्ति मनुष्यों के लिए चक्षु के समान मार्गदर्शक है जिसने भोग की तृष्णा पर विजय पा ली है।

६०६

बुद्धिमान पुरुष को अपना गृद्धिभाव दूर हटाना चाहिए।



स्नेह-सूत्र

६०७

नेहपासा भयकरा ।

६०८

असिणेह सिणेहकरेहि ।

६०९

वोच्छिद सिणेहमप्पणो,
कुमुअ सारईय व पाणियं ।

६१०

विजहित्तु पुव्वसजोग,
न सिणेह कहचि कुव्विज्जा ।

६११

जहा रुक्ख वणे जायं, मालुया पडिवधइ ।
एव ण पडिवधति, नाइओ असमाहिणा ।

६१२

निवद्धो नाइसगेहि, हत्थी वा वि नवग्गेहे ।

६१३

एए सगा मणूसाण, पायाला व अतारिमा ।

६१४

त च भिक्खू परिन्नाय, सव्वे सगा महासवा ।

६१५

अणुस्सुओ उरालेसु जायमाणो परिव्वए ।

६१६

अह ण वयमावन्न, फासा उच्चावया फुसे ।
न तेसु विणिहण्णेज्जा, वाएण व महागिरी ॥

६०७ उत्त० २३।४३

६१० उत्त० ८।२

६१३ मूत्र० १।३।२।१२

६१६. मूत्र० १।१।१।३७

६०८ उत्त० ८।२

६११ सूत्र० १।३।२।१०

६१४ सूत्र० १।३।२।१३

६०९ उत्त० १०।२८

६१२ सूत्र० १।३।२।११

६१५ सूत्र० १।६।३०

स्नेह-सूत्र

६०७

स्नेह के बन्धन भयकर हैं ।

६०८

जो तेरे प्रति स्नेह करे, उनसे भी तू नि स्नेह भाव से रह ।

६०९

जिस प्रकार शरदऋतु का कुमुद जल में लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार तू अपने स्नेह का विच्छेद कर निर्लिप्त बन ।

६१०

पूर्व सयोगो को छोड़ देने पर फिर किसी भी वस्तु में स्नेह न करे ।

६११

जैसे वन में उत्पन्न वृक्ष को मालुका लता घेर लेती है, उसी प्रकार मुनि को स्वजन असमाधि उत्पन्न कर स्नेह-सूत्र में बाँध लेते हैं ।

६१२

स्नेह-पाश में बँधे हुए मुनि की स्वजन उसी तरह चौकसी रखते हैं, जिस तरह नये पकड़े हुये हाथी की ।

६१३

माता, पिता, स्वजन आदि का स्नेह सम्बन्ध छोड़ना उसी तरह कठिन है जिस तरह अथाह समुद्र को पार करना ।

६१४

ज्ञाति ससर्ग को ससार का कारण समझ कर साधु उसका परित्याग कर देवे ।

६१५

उदार भोगों के प्रति अनासक्त रहता हुआ मुमुक्षु आत्मा यत्नपूर्वक सयम पथ में रमण करे ।

६१६

जिस प्रकार महागिरी हवा के झझावात से डोलायमान नहीं होता, उसी प्रकार ब्रत-निष्ठ पुरुष सम-विषम, ऊँच-नीच, अनुकूल-प्रतिकूल परिपक्षों के आने पर भी धर्म-पथ से विलग नहीं होता ।

६१७

कह चरे ? भिक्खु । वय जयामो ?
पावाइ कम्माइ पणोत्तयामो ?
अक्खाहि णे सजय । जक्खपूडया ।
कह सुजट्ठ कुसला वयन्ति ?

६१८

छज्जीवकाए असमारभन्ता,
मोस अदत्त च असेवमाणा ।
परिग्गह इत्थिओ माणमाय,
एय परिन्नाय चरन्ति दन्ता ।

६१९

सुसवुडो पच्चहि सवरेहि,
इह जीविय अणवक्खमाणो ।
वोसट्ठकाओ सुइच्चत्तंदहो,
महाजय जयई जन्नसिट्ठ ॥

६२०

के ते जोई ? के व ते जोइठाणे ?
का ते सुया ? किं व ते कारिसग ?
एहा य ते कयरा सन्ति भिक्खू ।
कयरेण होमेण हुणासि जोइ ?

६२१

तवो जोई जीवो जोइठाण,
जोगा सुया सरीर कारिसग ।
कम्म एहा सजमजोग सन्ती,
होम हुणामी इसिण पसत्थ ।

यज्ञ

६१७

हे भिक्षो ! हम किस प्रकार का यज्ञ करे, जिसके करने से पाप कर्मों का नाश हो सके । तथा हे यक्षपूजित सयत ! आप हमें बतायें, कि कुशल पुरुषो ने सुइष्ट-श्रेष्ठ यज्ञ का विधान किस प्रकार किया है ?

६१८

मन और इन्द्रियो का दमन करनेवाले छ काय के जीवो की हिंसा नहीं करते, असत्य और चौर्य का सेवन नहीं करते । परिग्रह, स्त्री, मान और माया इन सबका भली-भाँति त्याग करके विचरण करते हैं ।

६१९

जो पाँच सवरो से सुसवृत्त होता है, जो असयम—जीवन जीने की इच्छा नहीं करता और परिषहो को सहन करते हुए, जिन्होंने शरीर के प्रति ममत्त्व बुद्धि का त्याग कर दिया है, वे ही पवित्र हैं और वे ही जीव कर्मों के जय करनेवाले श्रेष्ठ यज्ञ का अनुष्ठान करते हैं ।

६२०

हे भिक्षो ! तुम्हारी अग्नि कौनसी है ? और कौन-सा अग्नि-कुण्ड है ? तुम्हारे घी डालने की करछियाँ कौन-सी हैं ? तुम्हारे अग्नि को जलाने के कण्डे कौन-से हैं ? तुम्हारे समिधा और शान्तिपाठ कौन-सा है ? और किस हवन से तुम ज्योति को प्रसन्न करते हो ?

६२१

तप ज्योति अर्थात् अग्नि है । जीव ज्योति-स्थान है । योग (मन, वचन और काया की सत् प्रवृत्ति) घी डालने की करछियाँ हैं । शरीर अग्नि जलाने के कण्डे है । कर्म ईंधन है । सयम की प्रवृत्ति शान्ति-पाठ है । इस प्रकार मैं ऋषि प्रशस्त—अहिसक होम करता हूँ ।

परलोक

६२२

तेणावि ज कय कम्म, सुह वा जइ वा दुह ।
कम्मूणा तेण सजुत्तो, गच्छइ उ पर भव ॥

६२३

गार पि अ आवसे नरे,
अणुपुव्व पाणेहि सजए ।
समता सव्वत्थ सुव्वते,
देवाण गच्छे स लोगय ॥

६२४

पच्छा वि ते पयाया, खिप्प गच्छन्ति अमरभवणाइ ।
जेसि पियो तवो सजमो य, खती य वभचेर च ॥

६२५-६२६

आसण सयणं जाण, वित्त कामे य भुजिया
दुस्साहड धण हिच्चा, बहु सच्चिणिया रय ॥
तओ कम्मगुरु जतु, पच्चुप्पन्नपरायणे ।
अयव्व आगयाएसे, मरणतम्मि सोयई ॥

६२७

अद्धाण जो महत्त तु, अप्पाहेओ पवज्जई ।
गच्छन्तो सो दुही होइ, छुहा-तण्हाए पीडिओ ॥

६२२ उत्त० १८।१७

६२५ उत्त० ७।८

६२३ सूत्र० १।२।३।१३ ६२४. दश० ४।२८

६२६. उत्त० ७।६

६२७ उत्त० १६।१८

परलोक

६२२

उस, मरनेवाले व्यक्ति ने जो भी कर्म किया है—शुभ या अशुभ उसी के साथ वह परलोक में चला जाता है ।

६२३

गृह में निवास करता हुआ गृहस्थ भी यथाशक्ति प्राणियों के प्रति दया-भाव रखे, सर्वत्र समता धारण करे, नित्य जिन-वचन का श्रवण करे, तो वह मृत्यु के पश्चात् दिव्यगति में उत्पन्न होता है ।

६२४

जिन्हें तप, सयम, क्षमा, और ब्रह्मचर्य प्रियकर है, वे शीघ्र ही देव-लोक—स्वर्ग को प्राप्त होते हैं । भले ही पिछली अवस्था में ही क्यों न प्रव्रजित हुये हो ?

६२५-६२६

जिसने विविध प्रकार के आसन, शय्या, वाहन, धन और काम-विषयो को भोगकर, अति परिश्रम से एकत्र किये धन को द्यूत आदि के द्वारा गँवाकर तथा बहुत कर्म-रज का संचय किया, केवल वर्तमान की ही दृष्टि रखनेवाला वह जीव मृत्यु के क्षणों में उसी प्रकार शोक करता है, जिस प्रकार पाहुने के निमित्त पोषा हुआ मेमना (बकरा) पाहुने के आने पर ।

६२७

जो पथिक बिना पाथेय किसी लम्बे मार्ग का अनुसरण करता है वह आगे जाता हुआ भूख और प्यास से पीड़ित होकर अत्यन्त दुखी होता है ।

६२८

एव धम्म अकाऊण, जो गच्छइ पर भवं ।
गच्छन्तो सो दुही होइ, वाहीरोगेहि पीडिओ ॥

६२९

अद्धाण जो महत्त तु, सपाहेओ पवज्जई ।
गच्छन्तो सो सुही होइ, छुहा-तण्हा-विवज्जिओ ॥

६३०

एव धम्म मि काऊण, जो गच्छइ पर भव ।
गच्छन्तो सो सुही होइ, अप्पकम्मे अवेयणे ॥

६२८

जो मनुष्य बिना धर्माचरण किये परलोक जाता है वह वहाँ अनेकानेक व्याधियों (कष्टों) से पीड़ित होकर अत्यन्त दुःखी होता है ।

६२९

जो पथिक नम्बी यात्रा के पथ पर अपने साथ पाथेय लेकर जाता है, वह आगे जाता हुआ भूख और प्यास से किञ्चित् भी पीड़ित न होकर अत्यन्त सुखी होता है ।

६३०

जो मनुष्य यहाँ भली-भाँति धर्म की आराधना करके परलोक जाता है, वह वहाँ अल्प-कर्म तथा पीडा-रहित होकर अत्यन्त सुखी होता है ।

बोध-सूत्र

६३१

सर्व सुचिण्ण सफल नराण ।

६३२

जाइमरण परिन्नाय, चरे सकमणे दढे ।

६३३

पाव कम्म नेव कुज्जा, न कारवेज्जा ।

६३४

नो निन्हवेज्ज वीरिय ।

६३५

वन्धप्पमोक्खो अज्झत्थेव ।

६३६

जो परिभवइ पर जण, ससारे परिवत्तइ मह ।

६३७

सुहुमे सल्ले दुरुद्धरे ।

६३८

इणमेव खण वियाणिया ।

६३९

जीविय चेव रुव च, विज्जुसपाय चचल ।

६३१ उत्त० १३।१०

६३२ आचा० १।२।३

६३३ आचा० १।२।६

६३४ आचा० १।५।३

६३५. आचा० १।५।२

६३६ सूत्र० १।२।२।१

६३७ सूत्र० १।२।२।११

६३८ सूत्र० १।२।३।१६

६३९. उत्त० १।८।१३

बोध-सूत्र

६३१

मनुष्यों का अच्छा किया हुआ सर्वकर्म सफल होता है ।

६३२

जन्म-मरण के स्वरूप का भली-भाँति परिज्ञान कर चारित्र्य में सुदृढ होकर विचरे ।

६३३

पाप-कर्म साधक न स्वयं करे, न दूसरो से करवाये ।

६३४

अपनी योग्य शक्ति को कभी भी छुपाना नहीं चाहिये ।

६३५

बन्धन और मोक्ष वस्तुतः हमारे भीतर में ही है ।

६३६

जो व्यक्ति दूसरो का तिरस्कार करता है, वह ससार-बन में लम्बे समय तक परिभ्रमण करता रहता है ।

६३७

मन में रहे हुए विकारों के सूक्ष्म-शल्य को मिटाना अत्यन्त कठिन हो जाता है ।

६३८

जो क्षण वर्तमान में वर्त रहा है, वही महत्त्वपूर्ण है । अतः साधक को उसे सफल बनाना चाहिए ।

६३९

जीवन और रूप विजली की चमक की तरह चंचल है ।

६४०

किरिअ च रोयए धीरो ।

६४१

अणिच्चे जीवलोगम्मि, किं हिंसाए पसज्जसि ।

६४२

मायाहिं पियाहिं लुप्पइ,
नो सुलहा सुगई य पेच्चओ ।

६४३

इह लोगे सुचिन्ता कम्मा
इहलोगे सुहफलविवागसजुत्ता भवति ।
इह लोगे सुचिन्ता कम्मा
परलोगे सुहफलविवाग सजुत्ता भवति ॥

६४४

सव्व जग जइ तुव्वभ, सव्व वा वि धण भवे ।
सव्व पि ते अपज्जत्त, नेव ताणाय त तव ।

६४५

वोसिरे सव्वसो काय, न मे देहे परीसहा ।

६४६

दुक्खेण पुट्ठे धुयमायएज्जा ।

६४७

वुज्झिज्जत्ति तिउट्ठिज्जा, वधण परिजाणिया ।

६४८

अत्तहिय खु दुहेण लव्वभई ।

६४०. उक्त० १८।३३

६४१ उक्त० १८।११

६४२. सूत्र० १।२।१।३

६४३ स्था० ४।२

६४४. उक्त० १४।३६

६४५ आचा० १।८।८।२१

६४६ सूत्र० १।७।२६

६४७ सूत्र० १।१।१।१

६४८ सूत्र० १।२।२।३०

६४०

धैर्यशाली पुरुष सदा क्रिया — कर्तव्य मे ही अभिरुचि रखते हैं ।

६४१

जीवन अनित्य है, क्षणभंगुर है, फिर क्यों हिंसा मे आसक्त होते हो ?

६४२

जो माता पिता, पुत्र पत्नी आदि मे मोह-भाव रखता है, उसको परलोक मे सुगति सुलभ नहीं है ।

६४३

इस जीवन मे किये हुये सत्कर्म इस जीवन मे भी सुखदायी होते हैं और इस जीवन मे किये हुये सत्कर्म अगले जीवन मे भी सुखदायी होते हैं ।

६४४

यदि यह सारा जगत और सारे जगत का धन भी तुम्हे दे दिया जाय, तब भी वह तुम्हारी रक्षा करने मे अपर्याप्त—असमर्थ है ।

६४५

साधक सर्व प्रकार से शरीर का मोह त्याग कर आनेवाले परिपहो के प्रति यह विचार करे कि—“मेरे शरीर मे कोई परीपह नहीं है ।”

६४६

कण्टो के आने पर भी मन को सयम की परिधि से बाहर नहीं जाने देना चाहिए ।

६४७

प्रथम वन्धन को समझो और पश्चात् उसे तोड़ो ।

६४८

आत्म-हित का अवसर कठिनाई से मिलता है ।

६४६

वोही य से नो सुलहा पुणो पुणो ।

६५०

काले कालं समायरे ।

६५१

पाव कम्म नेव कुज्जा, न कारवेज्जा ।

६५२

नो निन्हवेज्ज वीरिय ।

६५३

कलहकरो असमाहिकरे ।

६५४

अह्ज्सेयकरी अन्नेसि इखिणी ।

६५५

मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य,
पओगकाले य दुही दुरते ॥

६५६

पुरिसो रम । पावकम्मुणा, पलियत मणुयाण जीविय ।

६५७

अवलेण वह गच्छन्ति, सरीरेण पभगुरेण ।

६५८

जहा अतो तहा वाहिं जहा वाहिं तहा अतो ।

६४६ दश-चू० १।१४

६५० उत्त० १।३१

६५१. आचा० १।२।६

६५२ आचा० १।५।३

६५३ दशा० १

६५४ सूत्र० १।२।२।१

६५५ उत्त० ३।२।३१

६५६ सूत्र० १।२।१।१०

६५७. आचा० ६।१।१०

६५८. आचा० २।५

६४६

सदबोध की प्राप्ति का अवसर पुन पुन मिलना सुलभ नहीं है ।

६५०

समय पर समय का उपयोग करना चाहिए ।

६५१

पाप-कर्म न स्वयं को करना चाहिए और न दूसरो से करवाए ।

६५२

साधक को अपनी शक्ति कभी नहीं छुपाना चाहिए ।

६५३

कलह-भगडा करनेवाला असमाधि को उत्पन्न करनेवाला है ।

६५४

दूसरो की निन्दा किसी भी दृष्टि से हितकर नहीं है ।

६५५

असत्यभाषी झूठ के पहले, पीछे तथा प्रयोग करते समय तीनों ही काल में दुःखी होता है ।

६५६

हे पुरुष ! तू जीवन की क्षणभंगुरता को जानकर शीघ्र ही पाप-कर्मों से मुक्त हो जा ।

६५७

निस्सार क्षणभंगुर देह के पोषण के लिए मनुष्य पापकर्म करके मयकर दुःख उठाते हैं ।

६५८

यह शरीर जैसा अन्दर से असार है, वैसा बाहर से भी असार है और बाहर से जैसा असार है, वैसा अन्दर से भी असार है ।

विकीर्ण सुभाषित

६५६

अप्पणो णामं एगे पत्तिय करेइ, णो परस्स ।
परस्स णामं एगे पत्तिय करेइ, णो अप्पणो ।
एगे अप्पणो पत्तिय करेइ, परस्स वि ।
एगे णो अप्पणो पत्तिय करेइ, णो परस्स ।

६६०

गज्जित्ता णाम एगे णो वासित्ता ।
वासित्ता णाम एगे णो गज्जित्ता ।
एगे गज्जित्ता वि वासित्ता वि ।
एगे णो गज्जित्ता णो वासित्ता ।

६६१

मधुकुभे नाम एगे मधुपिहाणे, ।
मधुकुभे नामं एगे विसपिहाणे ।
विसकुभे नाम एगे मधुपिहाणे ।
विसकुभे नाम एगे विसपिहाणे ।

६६२

हिययमपावमकलुस, जीहाऽवि य मधुरभासिणी णिच्च ।
जमि पुरिसम्मि विज्जति, से मधुकुभे मधुपिहाणे ॥

६६३

हिययमपावमकलुस, जीहाऽवि य कडुय भासिणी णिच्च ।
जमि पुरिसम्मि विज्जति, से मधुकुभे विसपिहाणे ॥

६५६ स्था० ४।३

६६२ स्था० ४।४

६६०. स्था० ४।४

६६३ स्था० ४।४

६६१ स्था० ४।४

६६४

जं हिययं कलुसमय, जीहावि य मधुरभासिणी णिच्चं ।
जमि पुरिसमि विज्जति, से विसकुभे महुपिहाणे ॥

६६५

ज हियय कलुसमय, जीहावि य कडुयभासिणी णिच्च ।
जमि पुरिसमि विज्जति, से विसकुभे विसपिहाणे ॥

६६६

सकम्मुणा किच्चइ पावकारी ।

६६७

पुढो छदा इह माणवा ।

६६८

वयसा वि एगे बुइया कुप्पति माणवा ।

६६९

सूरोदए पासति चक्खुणेव ।

६७०

तहा भोत्तव्वं जहा से, जायामाता य भवति ।
न य भवति विव्भमो, न भसणा य धम्मस्स ॥

६७१

वण्ण जरा हरइ नरस्स रायं ।

६७२

नत्थि केइ परमाणुपोग्गलमेत्ते वि पएसे ।
जत्थण अयं जीवे न जाए वा, न मए वा वि ॥

६६४. स्था० ४।३

६६५. स्था० ४।४

६६६. स्था० ४।४

६६७ आचा० १।५।२

६६८ आचा० १।५।४

६६९ सूत्र० १।१४।१३

६७० प्रश्न० २४

६७१. उत्त० १३।२६

६७२ भग० १२।७

६६४

जिस का हृदय कलुषित और माया युक्त है, किन्तु वाणी से मधुर-भाषी है, वह मनुष्य विष के घड़े पर मधु के ढक्कन के समान है ।

६६५

जिस का हृदय भी पापमय है, और वाणी से भी सदा कठोर बोलता है वह व्यक्ति विष के घड़े पर विष के ढक्कन के समान है ।

६६६

पापात्मा स्वयं के ही कर्मों से दुःखी होता है ।

६६७

ससार में मनुष्य भिन्न-भिन्न विचार वाले होते हैं ।

६६८

कई लोग छोटी-छोटी बातों पर क्षुब्ध हो जाते हैं ।

६६९

सूर्योदय होने पर भी चक्षु के बिना नहीं देखा जाता है । वैसे ही स्वयं में कोई कितना ही विज्ञ वयो न हो, तथापि गुरु—मार्गदर्शक के अभाव में तत्त्वदर्शन नहीं कर पाता ।

६७०

साधक को ऐसा हित-मित भोजन करना चाहिए, जो जीवन-यात्रा एवं सयमयात्रा के लिए उपयोगी हो सके, और जिससे न किसी प्रकार का विभ्रम हो और न धर्म की भ्रसना ही ।

६७१

हे नरेश ! जरा मनुष्य की सुन्दरता को नष्ट कर देती है ।

६७२

इस विराट् विश्व में परमाणु जितना भी ऐसा कोई प्रदेश नहीं है, जहाँ इस जीव ने जन्म-मरण न किया हो ।

६७३

ण एव भूत वा भव्व वा भविस्सति वा
ज जीवा अजीवा भविस्सति ।
अजीवा वा जीवा भविस्सति ॥

६७४

दीणे णाम एगे णो दीणमणे ।
दीणे णाम एगे णो दीणसकप्पे ।

६७५

जे से पुरिसे देति वि, सण्णवेइ वि से ण ववहारी ।
जे से पुरिसे नो देति, नो सण्णवेइ से ण अववहारी ॥

६७६

वओ अच्चेति जोव्वण च ।

६७७

वेयावच्चेण तित्थयर नाम गोत्त कम्म निवन्धई ।

६७८

सज्झाएणं नाणावरणिज्ज कम्म खवेई ।

६७९

जलबुब्बुयसमाणं कुसग्गजलविंदु चचलं जीविय ।

६८०

पावोगहा हि आरंभा, दुक्खफासा य अतसो ।

६८१

ण वि अत्थि माणुसाण, त सोक्ख ण वि य सव्व देवाण ।
ज सिद्धाण सोक्ख, अव्वावाह उवगयाण ।

६८२

घम्मज्जियं च ववहार, बुद्धेहायरिय सया ।
तमायरतो ववहारं, गरह नाभिगच्छई ॥

६७३ स्या० १०

६७४. स्या० ४।२

६७५ राज प्रश्नी० ४।७०

६७६ आचा० १।२।१

६७७ उक्त० २६।४३

६७८ उक्त० २६।१८

६७९. औप० २३

६८० सूत्र० १।८।७

६८१ औप० १८०

६८२. उक्त० १।४२

६७३

न कभी ऐसा हुआ है, न होता है, और न कभी होगा ही कि जो चेतन है वे कभी अचेतन-जड हो जायें और जो अचेतन-जड हैं वे चेतन हो जायें ।

६७४

कुछ मनुष्य शरीर तथा धन आदि में दीन-गरीब होते हैं किन्तु उनका मन और सकल्प बड़ा ही उदार होता है ।

६७५

जो व्यापारी ग्राहक को अमीष्ट वस्तु देता है और प्रीति-वचन से सन्तुष्ट भी करता है वह व्यवहारी है । जो न देता है और न प्रीति-वचन से ही सन्तुष्ट करता है वह अव्यवहारी है ।

६७६

उम्र और यौवन प्रतिपल व्यतीत हो रहा है ।

६७७

वैयावृत्य-सेवा से जीव तीर्थंकर नाम-भोत्र का उपार्जन करता है ।

६७८

स्वाध्याय से जीव ज्ञानावरण कर्म का क्षय करता है ।

६७९

जीवन जल के बुलबुले के समान तथा कुशा के अग्रभाग पर स्थित जलबिन्दु के समान चंचल है ।

६८०

पापकारी प्रवृत्ति अन्ततः दुःख ही देती है ।

६८१

समर के उन सभी मनुष्यों को और देवताओं की भी वह सुख प्राप्त नहीं है, जो सुख अव्यावाध स्थिति वाले सिद्धात्माओं को है ।

६८२

जो व्यवहार धर्म सम्मत है, जिसका तत्त्वज्ञ आचार्यों ने सदा आचरण किया है, उस व्यवहार का आचरण करनेवाला मनुष्य कहीं भी निन्दा का पात्र नहीं होता ।

— — —

२७

२८

२९

६८३

जइ मज्झ कारणा एए, हम्मति सुवहूजिया ।
न मे एय तु निस्सेस, परलोगे भविस्सई ॥

६८४

वेराइ कुव्वई वेरी, तओ वेरेहि रज्जती ।

६८५

उदगस्सफासेण सिया य सिद्धी,
सिज्झिसु पाणा वहवे दगसि ।

६८६

चइज्ज देह न हु धम्म सासण ।

६८७

एव तक्काइ साहिता, धम्माधम्मे अकोविया ।
दुक्ख ते नाइतुट्ठति, सउणी पजर जहा ॥

६८८

गिरि नहेहि खणह, अय दन्तेहि खायह ।
जायतेयं पाएहि हणह, जे भिक्खु अवमन्नह ॥

६८९

ममत्तवधं च महवभयावह ।

६९०

ममाइ लुप्पइ वाले अन्नमन्नेहि मुच्छिए ।

६९१

निरट्ठिया नगखई उ तस्स,
जे उत्तमट्ठ विवज्जासमेई ।

६८३ उत्त० २२।१६	६८४. सूत्र० १।८।७	६८५ सूत्र० १।७।१४
६८६. दश० चू० १।१७	६८७ सूत्र० १।१।२।२२	६८८ उत्त० १२।२६
६८९ उत्त० १६।६८	६९०. सूत्र० १।१।४	६९१. उत्त० २०।४६

६८३

यदि मेरे निमित्त से बहुत से जीवों की घात होने वाली है तो यह परलोक में मेरे लिए जरा भी श्रेयस्कर नहीं है ।

६८४

वैरभाव रखने वाला व्यक्ति सदा वैर ही करता रहता है । वह एक के बाद एक क्रमशः वैर को बढ़ाने में ही मग्न रहता है ।

६८५

यदि जल स्पर्श अर्थात् जल स्नान से ही सिद्धि प्राप्त होती हो तो जल में रहने वाले अनेकानेक प्राणी कभी के मोक्ष प्राप्त कर लेते ।

६८६

देह को भले ही त्याग दे किन्तु अपने धर्म-शासन को न त्यागे ।

६८७

जो व्यक्ति धर्म तथा अधर्म से सर्वथा अनभिज्ञ है, केवल कल्पित तर्कों के आधार पर ही अपने विचारों का प्रतिपादन करते हैं । वे वस्तुतः अपने कर्म बन्धन को तोड़ नहीं सकते । जैसे कि पिंजरे में रहा हुआ पक्षी पिंजरे को तोड़ने में असमर्थ होता है ।

६८८

मुनि का अपमान—तिरस्कार करना वैसा ही कष्टप्रद है जैसा कि नखों से पर्वत को खोदना, दाँतों से लोहे को चवाना और पैरों से अग्नि को रौदना ।

६८९

ममत्त्व का बन्धन महामय को उत्पन्न करने वाला है ।

६९०

घन-धान्यादि वस्तुओं में आसक्त प्राणी ममत्त्वभाव से ही दुःखी होता है ।

६९१

उसका नग्न भाव व्यर्थ है जो उत्तमार्थ में विपरीत बुद्धि रखता है, दुष्प्रवृत्ति को सत्प्रवृत्ति मानता है ।

६६२

दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाण ।

६६३

अभओ पत्थिवा तुब्भं, अभयदाता भवाहि य ।
अणिच्चे जीवलोगम्मि, किं हिंसाए पसज्जसि ॥

६६४

तिहिं ठाणेहि देवे परितप्पेज्जा । त जहा-
अहो ण मए...णो बहुसुए अहीए...
णो दीहे सामन्नपरियाए अणुपालिए...
णो विसुद्ध-चरित्ते फासिए..... ।

६६५

चउव्विहा बुद्धि पणत्ता, त जहा—
उप्पइया, विणइया, कम्मिया, परिणामिया ।

६६६

आणाए धम्म ।

६६७

जीविय दुप्पडिबूहग ।

६६८

नो सुलहा सुगई य पेच्चओ ।

६६९

दुल्लहा तु मुहादाई, मुहाजीवी वि दुल्लहा ।
मुहादाई मुहाजीवी, दो वि गच्छन्ति सोगइं ॥

१०००

रागस्स दोसस्स य संखएण
एगन्तसोक्ख समुवेइ मोक्ख ।

१००१

सव्वत्थ भगवया अनियाणया पसत्था ।

६६२. सूत्र० १।६।२३

६६३. उक्त० १८।११

६६४. स्या० ३।२।१७८

६६५. स्या० ४।४।३६४

६६६. आचा० ६।२।५

६६७. आचा० २।५

६६८. सूत्र० १।२।१।३

६६९. दज्ज० ५।१।१००

१०००. उक्त० ३।२।२

१००१. स्या० ६।१

६६२

सभी दानों में अभयदान सर्वश्रेष्ठ है ।

६६३

अनगार बोले—हे राजन् ! मेरी तरफ से तुझे अभय है और तुम भी अभयदाता बनो । इस अनित्य जीव लोक में तू हिंसा में आसक्त क्यों बन रहा है ?

६६४

देवता तीन कारणों से पश्चात्ताप करते हैं—अहो ! मैंने विशेष श्रुत ज्ञान नहीं पढ़ा, अधिक समय नहीं पाला, एवं विष्णुद्व्यचारित्र का स्पर्श नहीं किया ।

६६५

चार प्रकार की बुद्धि कही है—औत्पातिकी, वैनयिकी, कार्मिकी, पारिणामिकी ।

६६६

जिनेश्वर देव की आज्ञा के पालन में ही धर्म है ।

६६७

जीवन का एक क्षण भी बढ नहीं सकता ।

६६८

मरने के बाद जीव को सद्गति सुलभ नहीं है ।

६६९

इस लोक में नि स्वार्थ भाव से देनेवाले दाता और नि स्वार्थ भाव से लेने वाले सन्त—दोनों ही अति दुर्लभ हैं । अतः दोनों ही सद्गति को प्राप्त होते हैं ।

१०००

राग-द्वेष के सम्पूर्ण क्षय से यह जीव एकान्त सुखरूप—मोक्ष को प्राप्त कर लेता है ।

१००१

प्रभु ने सर्वत्र निष्कामता को उत्तम बताया है ।

परिशिष्ट

मुनिश्री जी के साहित्य पर विद्वानों के अभिप्राय

आधुनिक विज्ञान और अहिंसा

—लेखक : गणेशमुनि शास्त्री, साहित्यरत्न

—भूमिका : विद्वद्वर्य मुनि कातिसागर जी

—प्रकाशक आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली-६

—मूल्य-तीन रुपये पचास पैसे

ॐ विज्ञान और अहिंसा दोनों ही बड़े जटिल विषय हैं, फिर भी इन्हें जिस सरल और आकर्षक रूप में उपस्थित करने का विद्वान लेखक ने प्रयास किया है, वह श्लाघनीय है . कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक जानकारी देने का उपक्रम, पुस्तक की अपनी विशेषता है, तभी तो लेखक ने 'प्राकृतिक और आध्यात्मिक' से प्रारम्भ कर 'विश्वशान्ति और अहिंसा', संयुक्त राष्ट्रसंघ' तथा 'अहिंसा की सार्वभौम शक्ति' आदि अनेक विषयों की चर्चा की है . . प्रस्तुत पुस्तक अहिंसा सम्बन्धी विचारों की निर्माण दिशा में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी, ऐसा मेरा विश्वास है, भाषा प्रवाहशील है, सबल है, छपाई, सफाई, गेटअप आकर्षक है ।

—उपाध्याय अमरमुनि

ॐ आधुनिक विज्ञान और अहिंसा' में श्री गणेशमुनि शास्त्री ने वर्तमान जीवन की विभीषिकाओं पर दृष्टि केन्द्रित करते हुए अपने अनुभवों द्वारा विज्ञान और आध्यात्मिक संस्कृति का समन्वयात्मक अध्ययन सरलतापूर्वक प्रस्तुत कर रुचिशील पाठकों का ज्ञान संवर्धन किया है, विज्ञान जैसे वहिर्जगत् से संबद्ध विषय से लेकर धर्म, अहिंसा और दर्शन जैसे आध्यात्मिक जीवन-प्रेरक तत्वों से सम्बन्ध स्थापित कर धर्म और समाज की जो सेवा की है, वह स्तुत्य है ।

—मुनि कातिसागर

ॐ आधुनिक विज्ञान और अहिंसा' एक आदर्श कृति है । युवक क्रान्तदर्शी सन्त श्री गणेशमुनि शास्त्री का प्रस्तुत उपक्रम आधुनिक युग की साहित्य सर्जना में वेजोड है ।

—'श्रमण' वाराणसी

ॐ विज्ञान और वैज्ञानिक प्रणालियाँ मानवता द्वारा अहिंसा का मार्ग सरलता से अपनाने में किस प्रकार सहायक हो सकती है, इस विषय में श्री गणेश मुनिजी के जो विचार हैं, वे जनता के सही मार्गदर्शन में उपयोगी सिद्ध होंगे।

—डा दौलतसिंह कोठारी

अध्यक्ष : विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, दिल्ली

ॐ 'आधुनिक विज्ञान और अहिंसा' के लेखक मुनिराज को न केवल विज्ञान में ही रुचि है, अपितु धर्मशास्त्रों के साथ-साथ वैज्ञानिक साहित्य का भी सुन्दर अध्ययन है। प्रस्तुत कृति भावी अहिंसा विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों के पाठ्यक्रम में उपयोगी सिद्ध होगी।

—डा डी बी परिहार

ॐ गणेश मुनि शास्त्री की 'आधुनिक विज्ञान और अहिंसा' पुस्तक देखी, पढ़ी—आद्य से इति तक वस्तुतः यह मुनिश्री की एक सुन्दर एवं मौलिक कृति है। प्रसन्नता और वधाई।

—सुरेश मुनि, शास्त्री

ॐ पुस्तक की छपाई, गेटअप आदि काफी आकर्षक बन पड़े हैं, पुस्तक का केवल जैन जगत में ही नहीं, वरन् जैनेतर जगत् में भी स्वागत होगा। हमारे राजनीतिज्ञों के लिए यह पुस्तक पथ-प्रदर्शक का कार्य करेगी। लेखक और प्रकाशक दोनों ही वधाई के पात्र हैं।

—'ललकार'

१६ अगस्त, १९६१ जोधपुर

ॐ यदि प्रस्तुत पुस्तक को प्रयत्न करके किसी पाठ्यक्रम में निश्चित करा दिया जाय, तो जनता का अधिक लाभ होगा, पुस्तक सर्वरूपेण पठनीय है।

—जिनवाणी'

जयपुर (राजस्थान)

साथ अहिंसा के अगर,
हो पढ़ना विज्ञान।
पाठक। पढ़िये प्यार से,
यह पुस्तक गुण-खान।
सरल सरस फिर सारयुत,
कृति ऐसी नहि अन्य।
मुनि 'गणेश' शास्त्री-गुणी,
जी को शतश धन्य।

—चन्दन मुनि [पजाबी]

नोट

प्रस्तुत पुस्तक की सुन्दर समीक्षा दैनिक समाचार पत्रों के अतिरिक्त 'रेडियो स्टेशन' दिल्ली से भी समीचीन समीक्षा हो चुकी है।

अहिंसा की बोलती मीनारें

—लेखक : गणेश मुनि, शास्त्री साहित्यरत्न

—सूचिका : यशपाल जैन, दिल्ली

—प्रकाशक सन्मति ज्ञान पीठ, आगरा-२

—मूल्य : चार रुपये,

आज सब ओर प्रेम, करुणा और बन्धुता के स्थान पर आशंका, भय और अविश्वास का बोलबाला है। ये सब शान्ति के लिए खतरे हैं, जिनसे त्राण पाने का यदि कोई अमोघ अस्त्र है, तो वह अहिंसा ही है। जहाँ अहिंसा है, वहाँ जीवन है और जहाँ अहिंसा का अभाव है, वहाँ जीवन का अभाव है। इस पुस्तक में अहिंसा की इसी विराट् और व्यापक शक्ति का ऐतिहासिक, सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दृष्टि से सूक्ष्म विवेचन किया गया है। पुस्तक सात खण्डों में विभक्त है और प्रत्येक खण्ड को 'बोलती मीनार' की संज्ञा दी गई। प्रथम खण्ड में अहिंसा के आदर्श को समझाते हुए, विराट् दृष्टि और विभिन्न मतों में उसका निरूपण किया गया है। दूसरे अध्याय में सामाजिक हिंसा के विचित्र रूप शोषण, दहेज आदि की चर्चा करते हुए बताया गया है कि मानव जाति एक है। तीसरे खण्ड में अपरिग्रहवाद की विस्तार से चर्चा की है। चौथे और पाँचवें अध्याय में अहिंसा के बुनियादी सिद्धान्त अनेकान्तवाद और शाकाहार की चर्चा की गई है। छठे खण्ड में रेडियो सक्रियता आणविक शक्ति, अणु-परीक्षण आदि का उल्लेख करते हुए यह बताया गया है कि विज्ञान पर अहिंसा की विजय किस प्रकार होती जा रही है और उसका समन्वय कैसे हो सकता है। अन्तिम सातवें खण्ड में अहिंसा और विश्व शान्ति जैसे ज्वलंत प्रश्न पर विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत विस्तार से चर्चा करते हुए इस दिशा में भारत के योगदान की चर्चा की गई है।

पुस्तक में अहिंसा के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पक्ष पर काफी सुपाठ्य सामग्री दी गई है। भाषा सरल, सुबोध और शैली इतनी रोचक है कि सीमित ज्ञान रखनेवाले व्यक्ति भी इसे आसानी से समझ सकते हैं। गेटअप और छपाई की दृष्टि से भी पुस्तक अच्छी और विषय वस्तु के कारण तो सग्रहणीय है ही।

—दैनिक हिन्दुस्तान

४ जनवरी १९७०, दिल्ली

प्रस्तुत पुस्तक में विद्वान् लेखक ने अहिंसा की व्यावहारिक पृष्ठभूमि को ध्यान में रखते हुए, उनके विभिन्न अंगों का विशद विवेचन किया है। इसे पढ़कर अहिंसा की तेजस्वी शक्ति का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

पुस्तक सात खण्डों में विभक्त है। पहले खण्ड में उन्होंने अहिंसा के आदर्शों को समझाया है। दूसरे में मानव जाति एक है, इसको स्पष्ट किया है। तीसरे में अहिंसा की साधना का ढंग बताया गया है। इसी खण्ड में अपरिग्रहवाद की विस्तार से चर्चा है। बाद के चार अध्यायों में मरल सुस्पष्ट भाषा में अहिंसा के बुनियादी सिद्धान्तों का विवेचन प्रस्तुत है। अहिंसा और विज्ञान के सम्बन्ध पर भी बल दिया गया है। अन्त में अहिंसा एवं विश्व शान्ति के ज्वलन्त प्रश्न पर विचार किया गया है।

पुस्तक कई दृष्टियों से पठनीय, चिन्तनीय, एवं सग्रहणीय है। आशा है कि साहित्यिक जगत में यह पूर्ण सम्मानित होगी।

—नवभारत टाइम्स, १४ दिसम्बर १९६९, बम्बई

अहिंसा की व्यावहारिक पृष्ठभूमि को स्पर्श करते हुए उसके विभिन्न अंगों का विशद विवेचन श्री गणेश मुनिजी शास्त्री ने प्रस्तुत पुस्तक में किया है। अहिंसा के सम्बन्ध में लेखक निष्ठावान् है और साथ ही व्यावहारिक बुद्धि से युक्त भी। अध्ययन एवं अनुभव के आधार पर की गई उसकी विवेचना अहिंसा में निष्ठा रखने वाले प्रत्येक पाठक के लिए उपयोगी सिद्ध होगी, ऐसा मेरा दृढतम विश्वास है।

—उपाध्याय अमरमुनि

अपने बहुत-से लेखों तथा भाषणों में मैंने इस बात पर जोर दिया है कि हमें सरल, सुबोध भाषा में कुछ ऐसी पुस्तकें तैयार करनी चाहिए, जो सामान्य बुद्धि और ज्ञान रखने वाले व्यक्तियों की भी समझ में आ जाय और वे इन्हें पढ़कर जान सकें कि अहिंसा की शक्ति कितनी तेजस्वी है और उन पर आचरण करके किस प्रकार राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय जीवन जगत में स्थायी शान्ति और सुख स्थापित किया जा सकता है। इस दृष्टि से प्रस्तुत पुस्तक को देखकर मुझे हार्दिक प्रसन्नता हुई। इसके लेखक जैन मुनि हैं और इन्होंने अहिंसा तथा सम्बन्धित सभी विषयों का सूक्ष्म अध्ययन एवं चिन्तन किया है।

—यशपाल जैन, देहली

श्री गणेश मुनिजी शास्त्री की अहिंसा की बोलती मीनारें अहिंसा का आधुनिक शास्त्र हैं। इसे अहिंसा की गीता कहे, तो कोई अतिशयोक्ति नहीं है।

—साध्वी उज्ज्वलकुमारी

❧ 'अहिंसा की बोलती मीनारें' के द्वारा कृष्ण के प्रेम को, महावीर की अहिंसा को, गाँधीजी की सत्याग्रहवादी भाषा को लेखक ने नवयुग की चेतना के समक्ष बड़ी सज्जधज के साथ रखा है ।

—विजय मुनि शास्त्री

❧ पुस्तक में सर्वत्र लेखक की सूझ-बूझ और चिन्तन पूर्ण अनुभूतियों का दिग्दर्शन होता है । ऐसी उपयोगी पुस्तक प्रकाशन के लिए लेखक एवं प्रकाशक को बधाइयाँ ।

—अजित शुकदेव

❧ अहिंसा के विभिन्न पहलुओं को लेकर प्राञ्जल शैली में लिखी गई यह कृति सर्वोपयोगी है ।

—मुनि नेमीचन्द्र

❧ आज के भयाक्रान्त विश्व को निर्भयता की ओर ले जाने में यह पुस्तक पूर्णसहायक बनेगी, ऐसा मेरा विश्वास है ।

—प्रवर्तक मुनि मिश्रीमल

❧ ऐसा श्रम साध्य तथा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ यदि किसी उच्चस्तरीय परीक्षा के पाठ्यक्रम में स्वीकृत हो जाय, तो समाज का अधिक हित हो सकता है ।

—प्रवर्तक विनयऋषि

❧ 'अहिंसा की बोलती मीनारें' में लेखक ने अहिंसा का शास्त्रीय चिन्तन प्रस्तुत करते हुए उसके व्यावहारिक, आध्यात्मिक और विविध मतों की दृष्टि से सामाजिक मूल्यों पर भी सुन्दर प्रकाश डाला है । भाव-भाषा दोनों ही दृष्टियों से पुस्तक सुन्दर से सुन्दरतर है ।

—आचार्य मुनि हस्तिमल

❧ वर्तमान विचार द्वन्द्व की काली निशा में मुनि श्री का प्रस्तुत ग्रन्थ 'अहिंसा की बोलती मीनारें' प्रकाश स्तम्भ बनकर विश्व को सही मजिल की दिशा सुझायेगा, ऐसा विश्वास है ।

—मालवकेशरी मुनि सौभाग्यमल

❧ पुस्तक क्या है ? वर्तमान देश, समाज व राष्ट्र की विभिन्न समस्याओं का उचित समाधान ! राकेटवादी युग का प्रकाश स्तम्भ ! प्रत्येक मीनार का विषय बड़ा ही रोचक, दिलचस्प एवं ज्ञानवर्धक है ।

—पं० शोभाचन्द्र भारिल्ल

❧ आज के युग को अहिंसा का बोध देने वाला यह एक सुसंस्कृत संयोजन है ।

—मधुकर मुनि

छपाई, सफाई और नामग्री की दृष्टि से यह प्रकाशन निःसंदेह अनुपम व उपयोगी है।

—सोभाग्य मुनि 'कुमुद'

पुस्तक क्या है ? दुर्लभ मोती,
हीरे लालो का डक कोप ।
हर एक शब्द अहिंसा माँ की,
महिमा का करता उदघोष ।
पट-सुन जिसे हजारो लाखो,
पार करेंगे भवमागर ।
गुणी 'गणेश' मुनीश्वरजी का,
ग्रन्थरत्न यह रहे अमर ।

—चन्दन मुनि (पंजाबी)

विचार रेखा

- सम्पादक : गणेश मुनि शास्त्री, साहित्यरत्न
- प्रेरक : श्री जिनेन्द्र मुनिजी
- प्रकाशक : अमर जैन साहित्य सदन, जोधपुर
- मूल्य . एक रुपया पचास पैसे

प्रस्तुत पुस्तक छ अध्यायो मे विभक्त वह उद्यान है, जिसमे अहिंसा, अस्तेय, सतोष, सयम, प्रेम, हर्ष, सुख, दुःख, क्षमा आदि विविध विचारो के सुमन खिले हैं, आशा है, जीवन मे इनकी सुरभि मिलती रहेगी । पुस्तक संग्रह और मनन के लायक है । मुनि श्री की इस सुन्दर कृति का सर्वत्र स्वागत हो यही हमारी मंगल कामना है ।

—श्रमण, वाराणसी

'विचार रेखा' महापुरुषो की दिव्यवाणी एव गम्भीर विचारको के विचारो का श्रेष्ठ संग्रह है, मानव जीवन के लिए प्रकाश स्तम्भ है ।

—विजय मुनि शास्त्री

हाथ मे उठा जो देखा विचित्र 'विचार रेखा',
सबसे निराला लेखा, कविता न गीत है ।
अनमोल हीरे पर, ढग से दिये हैं घर,
जौहरी का जैसा घर, पावन-पुनीत है ।

ज्ञानी-ध्यानी महागुणी, पंडित 'गणेश मुनि',
हर बात ऐसी चुनी, जीवन की जीत है।
ज्ञानियो के, गुणियो के, ऋषियो के, मुनियो के,
विविध विचारो का ही यह नवनीत है।

—चन्दन मुनि [पजाबी]

ॐ मेरे स्नेही साथी गणेशमुनि शास्त्री द्वारा संग्रहीत 'विचार रेखा' एक सुन्दर
सकलन है, साधना पथ का ज्योतिर्मय दीप-स्तम्भ है।

—मुनि समदर्शी 'प्रभाकर'

ॐ रूप-रग, साज-सज्जा तथा सामग्री की दृष्टि से 'विचार रेखा' एक उत्तम
कृति है, ऐसी उत्तम कृति का साहित्य जगत में स्वागत होना ही चाहिये।

—डा० नृसिंहराज पुरोहित

इन्द्रभूति गौतम : एक अनुशीलन

—लेखक गणेश मुनि शास्त्री, साहित्यरत्न

—संपादक . श्रीचन्द सुराना 'सरस'

—भूमिका डा० जगदीशचन्द्र जैन

—प्रकाशक सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा-२

—मूल्य : चार रुपये,

ॐ प्रस्तुत प्रबन्ध में गणधर इन्द्रभूति गौतम के विराट् व्यक्तित्व की यथार्थ
तस्वीर खींची गई है। आज तक की साहित्यिक अपूर्णता को यह कृति पूर्ण
कर रही है।

इस प्रबन्ध के लेखक हैं—श्रद्धेय पण्डित प्रवर श्री पुष्कर मुनि म० के
शिष्यरत्न श्री गणेश मुनि जी शास्त्री, श्री गणेश मुनि जी जैन समाज के एक
अनेक पहेलु वाले जगमगाते जवाहिर हैं। वे कवि भी हैं और कलाकार भी हैं।
गायक भी हैं और साधक भी हैं। और वे क्या नहीं हैं, यह एक प्रश्न है ?

आप इस प्रबन्ध के लिए अपनी साधु समाज में "डाक्टरेट" के प्रथम
विजेता बने, यही मनीषा।

—साध्वी उज्ज्वलकुमारी

ॐ श्री गणेश मुनि जी शास्त्री की 'इन्द्रभूति गौतम एक अनुशीलन' पुस्तक
पढ़ी। ग्रन्थ बहुत अध्ययनपूर्ण एवं सुन्दर शैली में लिखा गया है यदि वे

सुधर्मास्वामी पर भी इसी तरह का एक शोध प्रबन्ध तैयार करे तो समाज की बड़ी सेवा होगी ।

—साहित्यवारिधि अगरचन्द नाहुटा

ॐ विद्वान लेखक को इस 'थीसिस' पर 'डाक्टरेट' मिलनी चाहिए और उन्हें विशेष पद से विभूषित किया जाना चाहिए ।

इस अनुपम कृति के उपलक्ष मे मैं ज्ञानयोगी श्री गणेश मुनि जी का तथा सम्पादक वन्धु का और उनके भाग्यशाली पाठको का हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ ।

—नारायण प्रसाद जैन, बम्बई

ॐ प्रस्तुत पुस्तक मे विद्वान लेखक एव सम्पादक ने 'इन्द्रभूति' के उस महा-महिम शब्दातीत रूप को शब्दगम्य बनाने का स्तुत्य प्रयत्न किया है । पुस्तक का सरसरी तौर पर अवलोकन कर जाने पर मुझे लगा है—गौतम के व्यक्तित्व की गहराई को श्रद्धा एव चिन्तन के साथ उभारने का यह प्रयत्न वास्तव मे ही प्रशमनीय है तथा एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति भी ।

ऐसे अनुशीलनात्मक विशिष्ट ग्रन्थो मे पाठको की ज्ञानवृद्धि के साथ तत्त्वज्ञासा की परितृप्ति होगी—ऐसा विश्वास है ।

—उपाध्याय अमर मुनि

ॐ प्रस्तुत समीक्षा कृति 'इन्द्रभूति गौतम एक अनुशीलन' श्री गणेश मुनि शास्त्री द्वारा लिखी गई है, जिसमे गौतम सम्बन्धी विभिन्न चर्चाएँ हुई हैं । विद्वान लेखक ने नाति दीर्घ पुस्तक मे ही इन्द्रभूति गौतम के सम्बन्ध मे गहराई से विचार किया है और उनके विद्वत्तापूर्ण असाधारण व्यक्तित्व को प्रथम बार प्रकाश मे लाने का स्तुत्य प्रयास किया है । वस्तुतः लेखक का यह शोधपूर्ण प्रयास जैन चिन्तन के क्षेत्र मे महार्घ माना जायेगा । पुस्तक की भाषा साफ-सुथरी, प्रवाहपूर्ण आकर्षक है, लेखन शैली पिच्छिन और मनोज्ञ—संक्षेप मे, पुस्तक शोध-पूर्ण, नये चिन्तन को बल देने वाली और ऐतिहासिक संदर्भ को उत्साहित करने वाली है ।

—'श्रमण' वाराणसी

ॐ उदीयमान तेजस्वी लेखक श्री गणेश मुनिजी शास्त्री ने प्रस्तुत ग्रन्थ मे 'इन्द्रभूति गौतम' की जीवनी अत्यन्त रस के साथ प्रस्तुत की है, जिसके लिए वे अभिनन्दन के पात्र हैं ।

—दुर्लभजी खेताणी घाटकोपर, बम्बई

ॐ 'इन्द्रभूति गौतम एक अनुशीलन' को पढ़ने से ज्ञात हुआ कि यह एक

थीसीस (महानिवन्ध) है, इस प्रकार की पुस्तक लिखने वालों को विश्व-विद्यालय की ओर से पी० एच-डी० की उपाधि से विभूषित किया जाता है, प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक श्री गणेश मुनि जी शास्त्री भी पी० एच-डी० की उपाधि के योग्य अधिकारी हैं।

— विनय ऋषि

अहमदनगर (महाराष्ट्र)

१५-२-१९७१

गौतम गणधर शिष्य थे, महावीर के खास,
अब तक उनका न लखा, हिन्दी में इतिहास।
ज्ञानी गुणी 'गणेशजी', शास्त्री सुलझे सन्त,
इन्द्रभूति-गौतम' लिखा, अद्भुत अनुपम ग्रन्थ।
गुरुवर 'पुष्कर' हैं जिन्हें मिले महा गुण खान।
उनकी हो न क्यो कहो, कृतियाँ आलीशान।
जैसा लेखन उच्च है, है सम्पादन उच्च,
भाव भरा मुख पृष्ठ औ, सर्व प्रकाशन उच्च।
गहन मनन अध्ययन औ, चिन्तन देख विशाल,
है अभिनन्दन कर रहा, गद् गद् 'चन्दनलाल'।

— चन्दन मुनि

वाणी-वीणा

- कवयिता : गणेश मुनि शास्त्री, साहित्यरत्न
- सम्पादक : श्रीचन्द सुराना 'सरस'
- भूमिका : डॉ० पारसनाथ द्विवेदी, आगरा
- प्रकाशक : अमर जैन साहित्य सदन, जोधपुर
- मूल्य : दो रुपया पचास पैसे

ॐ 'वाणी-वीणा' जीवन की सात्विक प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति का काव्यात्मक स्वरूप है, आज के युग वैषम्य और कुण्ठाओं में पल रहे समाज के लिए इस प्रकार का संगीतात्मक प्रेषण प्रेरणाप्रद हो सकता है, समभाव, मैत्रीदिवस, प्रेममन्त्र, धार्मिकता, अहिंसा आदि जैनधर्म से समस्त उदात्त प्रवृत्तियों पर सुन्दर काव्यात्मक पक्तियाँ प्रस्तुत की गई हैं—जो लेखक के चिन्तन, मनन व अनुभूति की सात्विकता का पोषण करती हैं, कवि की इस मानवतावादी दृष्टि में ही वीणा का वैशिष्ट्य निहित है।

— नवभारत टाइम्स, मार्च १९७० वम्बई

ॐ 'वाणी-वीणा' को पढ़कर हृदय आनन्द की तरंगों में डूबने लगता है और लगता है कि हम गंगा की पावन धारा में एक वजरे के ऊपर बैठे हों, आज के युग में ऐसी पुस्तकों की पहले से अधिक आवश्यकता है।

—विश्वम्भर 'अरुण'

वाणी वीणा पढ़ मन मेरा, आनन्द से भर आया,
हर पद के गुञ्जन में देखी, पन्त निराला की छाया।
स्वागत है कविराज तुम्हारा काव्य क्षेत्र में तुम चमके,
नीलगगन में दिनकर के सम, दिन-दिन जगती पर दमके।

—साध्वी उज्ज्वलकुमारी

ॐ 'वाणी वीणा' किसी सम्प्रदाय विशेष का स्वर नहीं, बल्कि सच्ची निष्ठा के साथ मानवीय कर्तव्य कर्मों का स्वर सधान है, जीवन जगत के श्रेयस की पकड़ है।

—डॉ० पारसनाथ द्विवेदी

ॐ 'वाणी वीणा' मुक्तक रत्नों से सुमज्जित, सुन्दर हार सी एक मौलिक कृति है, जो साहित्य मूर्ति के कण्ठाभरण सी प्रतीत होती।

—मुनि 'कुमुद'

ॐ 'वाणी-वीणा' में कविवर श्री गणेश मुनि शास्त्री ने जीवनोपयोगी-मुक्तक काव्यों की भव्य रचना की है। सरस्वती के भण्डार में यह पुस्तक अपना एक विशिष्ट स्थान रखती है, कवि की कल्पना मधुर है, भाषा प्राजल है और शैली प्रभावमयी है, आशा है कि प्रत्येक अध्येता 'वाणी-वीणा' से प्रेरणा प्राप्त कर अपने जीवन को प्रशस्त बनाने का यत्न करेगा।

—विजय मुनि शास्त्री

'वाणी-वीणा' का हर मुक्तक,
मुक्ति दिखाने वाला है।
दर्द भरी इस दुनिया को—
सुरवाम बनाने वाला है।
भूले भटके मानवगण को,
दानवता से दूर हटा।
मानवता का मधुर-मधुर शुभ—
पाठ पढ़ाने वाला है।
क्यों न कहो, वधाईयाँ दें हम,
गुणी 'गणेश' मुनीश्वर को।

वन्द जिन्होने कर दिखलाया,
 गागर मे ही सागर को ।
 दीक्षित-शिक्षित कर, पर जिनने
 इनको योग्य बनाया है ।
 असल बधाईयाँ देते हैं हम,
 पूज्य मुनीश्वर पुष्कर को ।

—चन्दन मुनि [पजावी]

महक उठा कवि सम्मेलन

- कवयिता गणेश मुनि शास्त्री-साहित्यरत्न
- प्रकाशक अमर जैन साहित्य सदन, जोधपुर
- मूल्य : एक रुपया पचास पैसे

‘महक उठा कवि सम्मेलन’ एक सौ एक मुक्तको की भीनी सुरभि से महक रहा है, कवि ने अपने इन तमाम मुक्तको मे कमाल की सूझ भरदी है । व्यंगोक्ति के मर्म को छूनेवाली व्यजना, लाक्षणिकता की विपुल-बहुल श्रु खला कल्पना की उर्वर भूमि पर युगबोध का सम्यक् समाहार उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का चमत्कार एव भावों को जन-मन तक पहुँचाने वाली भाषा का सरल सरस प्रवाह पद-पद पर छलकता नजर आता है ।

मुक्तक काव्य परम्परा मे प्रस्तुत पुस्तक सदा सम्मान की दृष्टि से याद की जायगी ।

—श्री अमर भारती

‘महक उठा कवि-सम्मेलन’ आधुनिक युग के समर्थ चिंतक कविरत्न श्री गणेश मुनिजी शास्त्री की एक मौलिक कृति है । इसमे कुछ तुक्तक-मुक्तक ऐसे हैं, जिन्हें देखते ही जिह्वा झूम-झूम कर गुनगुनाने लगती है । काव्य-जगत मे मुनिश्री की प्रस्तुत कृति एक नयी अभिव्यञ्जना सिद्ध होगी ।

—साध्वी उज्ज्वलकुमारी

‘भाव भाषा और शैली तीनों दृष्टियों से पुस्तक सुन्दर एव सग्रहणीय है । इसमे कविवर श्री गणेश मुनि शास्त्री के विचार और अनुभूति का सुन्दर समन्वय प्रस्तुत हुआ है ।

—विजय मुनि, शास्त्री

‘महक उठा कवि सम्मेलन’ जब,

पुस्तक जरा उठा देखी ।

फुलझडियाँ देखी मुक्तक की तो,

सब की अजब अदा देखी ।

गुणी ‘गणेश’ मुनीश्वर जी की,

लखी लेखनी चकित हुआ ।

ऐसी सुलभी अन्य कहीं पर,

कम ही काव्य-कला देखी । —चन्दन मुनि [पजावी]

❧ ‘महक उठा कवि सम्मेलन’ के मुक्तक आकार की दृष्टि से छोटे हैं, किन्तु मानव के मन-मस्तिष्क को प्रभावित करने एवं जीवन को नया मोड़ देने में ये अणु से भी कम शक्तिशाली नहीं हैं । ये मानव मन पर जादू-सा असर करने वाले हैं ।

छपाई-सफाई, आकार-प्रकार तथा कलापूर्ण आवरणपृष्ठ अत्यधिक आकर्षक है ।

—मुनि समदर्शी

❧ ऐसी सुन्दर प्रभावोत्पादक कृति के लिए कवि को हृदय की गहराई से वधाई ।

—महेन्द्र मुनि ‘कमल’

सुबह के भूले

—लेखक गणेश मुनि शास्त्री साहित्यरत्न

—सम्पादक : जीतमल सफलेचा एम० ए०

—प्रकाशक : अमर जैन साहित्य संस्थान, उदयपुर

—मूल्य सात रुपये

❧ पुस्तक की भाषा-शैली प्रवाह पूर्ण और प्रभावशाली है । “रसात्मकम् वाक्य काव्य” की अनुभूति रचना को पढ़ते समय क्षण-क्षण होती रहती है । शब्दों का सुन्दर संयोजन, वाक्यों का सुगठित स्वरूप और अभिव्यक्ति की स्वच्छता रचनाकार की मौलिक शिल्प-चेतना का प्रत्यक्ष उदाहरण है । मुझे विश्वास है कि प्रस्तुत उपक्रम जैन-सत-काव्य परम्परा का वेजोड रत्न साबित होगा और आधुनिक युग के यात्रिक मानव-समाज को आध्यात्मिक शान्ति का सुन्दर उपहार देगा । मुनि जी लालित्यपूर्ण साहित्य-सर्जना के लिए वधाई के पात्र हैं ।

—डॉ० रामप्रसाद त्रिवेदी

प्राध्यापक आर के तलरेजा कालेज

उल्हास नगर—३ [महा०]

ॐ श्री गणेश मुनि जी जैन समाज के चिन्तनशील कवि और विद्वान गवेषक सन्त हैं। 'अहिंसा की बोलती भीनारे', 'इन्द्रभूति गोतम एक अनुशीलन' आदि कृतियों में उनका गवेषक पण्डित रूप प्रकट हुआ है। प्रस्तुत कृति 'सुबह के भूले' में उनका सरस कवि-रूप उभर कर सामने आया है। सकलन की सभी कवितायें कथा की अलगनी पर टिकी हुई हैं। उनमें वर्णनों की चित्रोपम छटा और भावों की रगीली मर्मस्पर्शिता है। कथा-प्रेमियों और कविता प्रेमियों के लिए यह कृति परितोपकारी है।

मैं इस सुन्दर कविता-सकलन के लिए मुनि श्रीजी का सादर अभिनन्दन करता हूँ।

— डॉ० नरेन्द्र भानावत

प्राध्यापक—हिन्दी विभाग राजस्थान विश्वविद्यालय

ॐ श्री गणेश मुनि जी शास्त्री जैन-जगत के एक उदीयमान सुयोग्य लेखक व सरस कवि हैं।

“आधुनिक विज्ञान और अहिंसा”, “अहिंसा की बोलती भीनारे” व “इन्द्रभूति गोतम एक अनुशीलन” आदि कलाकृतियाँ मुनिजी की अतीव प्रशंसनीय रही हैं। प्रस्तुत रचना भी मुनिजी की एक सुन्दरतम कलाकृति है। अन्य रचनाओं की तरह मुनिजी की यह रचना भी अतीव आदर पायेगी ऐसा मेरा विश्वास है।

इस रचना के लिए मेरा शतश अभिनन्दन है मुनिजी को।

—मधुकर मुनि

जीवन के अमृतकण

—लेखक गणेश मुनि शास्त्री, साहित्यरत्न

—सम्पादक श्रीचन्द सुराना, 'सरस'

—प्रकाशक अमर जैन साहित्य सस्थान, उदयपुर

—मूल्य दो रुपये पचास पैसे

ॐ “जीवन के अमृत कण” पुस्तक को पढ़कर मन आनन्दविभोर हो उठा, सचमुच एक-एक अमृत कण के रसास्वादन से जीवन में अपूर्व जागृति, चेतना और प्रेरणा की बाढ़ आ रही है।

—महासती उज्ज्वलकुमारी

ॐ “जीवन के अमृत कण” मानव में रही हुई, अन्तरंग अशान्ति को दूर हटाकर शान्ति प्रदान करने वाली एक सुन्दर कृति है। इस अमृत कणों के

खजाने में से एक-एक अमृत कण निकाल कर मानव अध्यात्म शान्ति का अनुभव कर सकता है। प्रस्तुत पुस्तक के लेखक राज्यस्थान केमरी प० श्री पुष्कर मुनिजी म के सुशिष्य कनिवर्य साहित्य सजक पण्डित मुनि श्री गणेश मुनि जी हैं। वे अनेक साधुवाद के पात्र हैं।

—प्रवर्तक चितय ऋषि

गीतों का मधुवन

—रचयिता गणेश मुनि शास्त्री

—प्रकाशक : अमर जैन साहित्य सदन, जोधपुर

—मूल्य एक रुपया

शब्दावलियाँ मरस सब,
शिक्षा और कमाल।
'गीतों का मधुवन' लखा,
गद् गद् 'चन्दनलाल'।
'मुनि गणेश' भारी, गुणी,
सरस्वती अवतार।
निशदिन ही जिनकी रहे,
अकृत गीत मितार।

—चन्दन मुनि [पजावी]

सम्पूर्ण साहित्य प्राप्त करने के लिए सम्पर्क करे—

अमर जैन साहित्य संस्थान

कोरपोल, बड़ा बाजार

पो० उदयपुर (राजस्थान)

